प्रकाशक

कबीर पारख संस्थान
संत कबीर मार्ग, प्रीतम नगर, इलाहाबाद—211011
दूरभाष : (0532) 2436820, 2436020, 2436100
Visit us : www.kabirparakh.com
E-mail : kabirparakh@yahoo.com

पहली बार वि० सं० 2066, सन् 2009
सत्कबीराब्द 611

ISBN :

मूल्य : ००.०० रुपये

मुद्रक
इण्डियन प्रेस प्रा० लि०
पन्ना लाल रोड, इलाहाबाद

Lao Tze Kya Kahate Hain : ABHILASH DAS

भूमिका

विगत मई (2008 ई०) में सूरत के दो मित्रों—बाबू भाई तथा अरविंद भाई ने लाओत्ज़े कृत 'ताओ ते चिंग' का एक हिन्दी पाठ दिया और कहा, "जब बुद्ध क्या कहते हैं? शंकराचार्य क्या कहते हैं? आ गये, तब लाओत्ज़े क्या कहते हैं? क्यों न आये?"

मैंने उक्त पाठ को पढ़ा, परंतु वह शुद्ध न लगा। अतएव इलाहाबाद आकर ब्रह्मचारी देवेन्द्र को कहा कि तुम संत लाओत्ज़े की रचना 'ताओ ते चिंग' पुस्तक के शुद्ध पाठ का पता लगाओ।

उन्होंने इलाहाबाद के सिविल लाइंस में विद्यमान 'एच० व्हीलर' के बुक स्टोर से 'ताओ ते चिंग' के जेम्स लेगी तथा रिचर्ड विल्हम के इंगलिश अनुवाद लाये, जो शुद्ध लगे। जेम्स लेगी का अनुवाद सवा सौ वर्ष पुराना है और रिचर्ड विल्हम का भी सौ वर्ष पुराना है।

संत लाओत्ज़े आज से 2500 वर्ष पूर्व चीन-देश में रहने वाले महापुरुष थे, जिन्होंने तात्कालिक सम्राट के अभिलेखागार के उच्च पद को छोड़कर एकांत साधना का जीवन अपनाया था। उनकी साधना और उपदेशों से चीन के लोग प्रभावित हुए थे। यहां तक कि समसामयिक विचारक सुधारवादी कनफ्यूशियस तथा उनके अनुगामी भी प्रभावित थे।

संत लाओत्ज़े लगभग सौ वर्ष की उम्र में उस राज्य को छोड़कर चल दिये। सीमा पर सीमा-प्रहरी ने रोक लिया और कहा, महाराज! आप कुछ देकर जाइये। संत लाओत्ज़े रुक गये और उन्होंने लगभग पांच हजार चित्र-लेखों में अपनी बात चीनी भाषा में लिखकर छोड़ दी और चल दिये। वही यह पुस्तक है। इसके बाद कोई नहीं जान पाया कि उस महापुरुष ने कहां अपना शरीर छोड़ा।

उनकी पुस्तक का नाम है 'ताओ ते चिंग'। जो चीनी तथा इंगलिश भाषा के विद्वान थे, उन्होंने उसका इंगलिश में अनुवाद किया। हमारे पास पांच इंगलिश अनुवाद इकट्ठे हो गये। ब्रह्मचारी देवेन्द्र ने रिचर्ड विल्हम के इंगलिश अनुवाद से हिन्दी अनुवाद किया, और उसी पर मैंने भावार्थ और भाष्य लिखा। इसको लिखते समय रिचर्ड विल्हम और जेम्स लेगी की टिप्पणियां यत्र-तत्र मेरा पथ-प्रदर्शक बनीं। अतएव मैं उनका आभारी हूं।

संत लाओत्ज़े उच्चतम संत हैं। जब सारा चीन-देश तथा विश्व व्यक्ति-ईश्वर और देवी-देवताओं की कल्पना में उलझा था, तब संत लाओत्ज़े विश्व-नियम के आधार पर जड़-चेतन सत्ता की व्याख्या कर रहे थे। उनके इस ग्रंथ में तीन ही विषय हैं—

1. अनादि स्वत: निहित विश्व-नियम (ताओ) से प्रवहमान जगत की स्थिति।

2. निर्मान तथा निष्काम साधना द्वारा शाश्वत शांति की प्राप्ति।

3. सम्राटों एवं राजाओं के लिए नीति-निर्देश।

जिस समय भारत में महावीर स्वामी और तथागत बुद्ध अपनी ज्ञान-गंगा बहा रहे थे, ठीक उसी समय संत लाओत्ज़े चीन में अपना वैज्ञानिक अध्यात्म-विचार प्रवाहित कर रहे थे। इनके आसपास के समय में यूनान के एथेंस नगरी में महान संत सुकरात अपनी निर्मल ज्ञान-गंगा बहाये, जिनके कृपा-प्रसाद से प्लेटो तथा अरस्तू जैसे दार्शनिक हुए।

इन सभी उच्चतम संतों एवं विचारकों के अनगिनत शताब्दियों पूर्व भारत में कपिल नाम के महान ऋषि हुए, जिनके सांख्य ज्ञान से 'सांख्य' शब्द ज्ञानवाची हो गया। श्वेताश्वतर उपनिषद् (5/2) के ऋषि ने कहा, "प्रथम पैदा हुए महर्षि कपिल को जिसने ज्ञान से भर दिया उस स्वयं प्रत्यक्ष आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करना चाहिए—ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्।"

महाभारतकार ने कहा, "सांख्यं विशालं परमं पुराणं महार्णवं विमलमुदारकांतम् (शांतिपर्व 301/114)।" अर्थात सांख्य-ज्ञान विशाल है, अत्यंत प्राचीन है, निर्मल है, उदार है, ज्योतित है और महासागर की तरह है। यहां तक कि, "ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किंचित् सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन् (शांतिपर्व 301/109)।" अर्थात हे महात्मन्! संसार में जितना भी ज्ञान है, वह सब सांख्य से आया है। गीताकार ने श्रीकृष्ण के मुख से कहलवाया, "मैं सिद्धों में कपिल हूं—सिद्धानां कपिलो मुनि: (गीता 10/26)।" महर्षि कपिल ने जड़-चेतन की व्याख्या प्रकृति-पुरुष नाम से की है। महर्षि कणाद ने कणों-परमाणुओं और आत्मा से जगत की स्थिति बतायी है और आत्मबोध से मोक्ष।

संत लाओत्ज़े को पढ़ते समय बारंबार संत कबीर की याद आती है। कबीर की वाणी सागर है, लाओत्ज़े की अल्प; किंतु यह अल्प वाणी ज्ञान और कल्याण का पूरा काम करती है। कबीर की वाणी उलटवासियों और पहेलियों से भरी है, लाओत्ज़े की वाणी में भी पहेलियों का पुट है। दोनों की वाणियां वैज्ञानिक अध्यात्म पेश करती हैं।

उपनिषदों के ऋषियों ने अहं ब्रह्मास्मि और तत्त्वमसि कहकर महान अद्‌भुत कहा है जबकि वे अत्यंत प्राचीन हैं। अतएव उपनिषद् के ऋषि तथा कपिल,

कणाद, महावीर, बुद्ध, सुकरात, लाओत्ज़े, कबीर आदि प्राय: एक लाइन के संत एवं चिंतक हैं।

सामी परंपरा—यहूदी, इसाई, इस्लामी आदि में भी स्पिनोजा, मंसूर, सर्मद आदि महान संतों और चिंतकों का आगमन हुआ है। सभी देश और काल में निर्मल, निष्पक्ष संतों और चिंतकों का प्रादुर्भाव होता रहा है।

ज्ञान की मुख्य विशेषता है कि जगत के सनातन नियमों से जगत की व्याख्या की जाय और जड़-चेतन-सत्ता को समझा जाय; और आत्मज्ञान तथा आत्मशोधन से आत्मकल्याण की व्याख्या की जाय, जिसमें व्यक्ति-ईश्वर, अवतारवाद, पैगंबरवाद, दैववाद, चमत्कार, अलौकिकता आदि की अंधकारमय काल्पनिक गंध न हो। इस पुस्तक की यही विशेषता है। संत लाओत्ज़े विश्व-नियम को 'ताओ' कहते हैं जो समस्त जड़-चेतन-सृष्टि में अनादि स्वत: निहित है। वे जीवन के सद्‌गुणों को 'ते' कहते हैं, जो शांति का कारण है। 'चिंग' का अर्थ पुस्तक है। इस प्रकार 'ताओ ते चिंग' का अर्थ हुआ 'विश्व-नियम और सद्‌गुण संपन्न जीवन की पुस्तक।' इसमें किसी अलौकिकता तथा काल्पनिक दैवी-चमत्कार की गुंजाइश नहीं है। संत लाओत्ज़े का कथन वैज्ञानिक अध्यात्म है।

पुस्तक के विषयों को यहां रखकर बताने की आवश्यकता नहीं है। पुस्तक छोटी है। पाठक स्वयं इसमें प्रविष्ट होकर अवगाहन करें।

'ताओ ते चिंग' का मूल चीनी-पाठ पीछे परिशिष्ट में दिया जा रहा है। इससे मूल पाठ की प्रामाणिकता पुष्ट होगी।

मूल चीनी पाठ में अध्यायों का विषय-शीर्षक नहीं दिया गया है। मैंने अपने इस भाष्य में हर अध्याय का विषय-शीर्षक दे दिया है, इससे हर अध्याय का विषय समझने में सरलता हो गयी है।

अंग्रेजी-पाठ में प्रत्येक अध्याय को विषयानुसार क्रमांक देकर बांट दिया गया है। मूल चीनी-पाठ में यह व्यवस्था नहीं है। रिचर्ड विल्हम के अंग्रेजी पाठ में भी यह व्यवस्था नहीं है। जेम्स लेगी ने अपने अंग्रेजी-पाठ में पढ़ने-समझने की सुविधा के लिए प्रत्येक अध्याय के विषयों को क्रमांक में बांटा है। हमें उनका यह क्रमांक देना अच्छा लगा। अतएव रिचर्ड विल्हम के अंग्रेजी-पाठ में भी विषयानुसार क्रमांक कर दिया गया है। अतएव वही क्रम हिंदी अनुवाद में भी है। इससे पाठ अधिक स्पष्ट हुआ है।

'ताओ ते चिंग' के कुछ अंग्रेजी पाठ कलकत्ता स्थित राष्ट्रीय पुस्तकालय के उपाध्यक्ष श्री सय्यद अबूबर जी के सहयोग से उपलब्ध हुए और एक अंग्रेजी-पाठ तथा उससे संबंधित कुछ सामग्री जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय दिल्ली के भारतीय भाषा केन्द्र के असिस्टेंट प्रोफेसर डॉ॰ रामचंद्र जी के सहयोग से

चीनी-भाषा विभाग के असिस्टेंट प्रोफेसर श्री राकेश कुमार जी के प्रयास से प्राप्त हुए। इन सबके प्रति मेरी शुभकामनाएं हैं। कुछ अंग्रेजी पाठ हिंदी-अनुवादक ब्रह्मचारी देवेंद्र जी ने इंटरनेट से स्वयं निकाल कर पाठों को मिलाने तथा समझने की चेष्टा की है।

संत लाओत्ज़े, उनकी पुस्तक तथा उनके पीछे उनके पड़ने वाले प्रभाव के विषय में अनुवादक देवेंद्र का आलेख आगे विस्तार से पढ़ें।

कबीर आश्रम, कबीर नगर —**अभिलाष दास**

इलाहाबाद

15 दिसंबर, 2008 ई०

संत लाओत्ज़े, उनकी पुस्तक और उनका प्रभाव

पुराने संतों की प्रामाणिक जीवनियां नहीं मिलतीं। भारतवर्ष की ही बात नहीं है, दुनिया के इतिहास में लगभग सब जगह ऐसा ही है। जिस समय प्राचीन भारत में स्वामी महावीर तथा तथागत बुद्ध की जोड़ी अध्यात्म के प्रचार-प्रसार में लगी हुई थी, लगभग उसी समय पड़ोसी राष्ट्र चीन में दो महत्त्वपूर्ण संत हुए—लाओत्ज़े एवं कनफ्यूशियस। प्रारंभ में दोनों ही प्रशासनिक अधिकारी थे, फिर प्रशासनिक कार्यों से स्वैच्छिक निवृत्ति लेकर स्वतंत्र हो गये। लाओत्ज़े कनफ्यूशियस से ज्येष्ठ थे, कितना ज्येष्ठ थे निश्चित तौर पर कहा नहीं जा सकता। कुछ इतिहासकार लगभग पचास वर्ष, तो कुछ बीस वर्ष ज्येष्ठ बताते हैं। कनफ्यूशियस सामाजिक सुधार एवं जनकल्याण में आजीवन लगे रहे, जबकि लाओत्ज़े दुनिया से उदास रहते थे। उनकी लौकिक चीजों में जरा भी रुचि न थी। अत: वे एकान्तवास में रहने लगे। वे प्रखर वैराग्यवान, संसार से उदासीन, आत्मभाव में जाग्रत संत पुरुष थे। उनमें सब कुछ को झाड़-फटकार कर चल देने वाली फक्कड़ाना मस्ती एवं निर्भयता बरबस ही भारतीय संत शिरोमणि कबीर की याद दिलाती है। उनकी वाणियों का दो टूक स्वर, उनमें उलटवासियों की गुत्थियां, उनमें छिपे वैज्ञानिक चिंतन के तत्त्व एवं एक स्वतंत्र चिंतन की सुगंध उनको आज ढाई हजार वर्ष बाद भी आकर्षण का केन्द्र बनाये हुए है। यहां उनका जीवन परिचय और उनकी वाणी 'ताओ ते चिंग' पर विनम्र निवेदन प्रस्तुत है।

1. जन्म और जीवन

लाओत्ज़े के जन्म और जीवन के संबंध में इतिहास और किंवदंतियों की मिली-जुली जानकारी इस प्रकार है। उनका जन्म चीन के हेनान प्रांत में हुआ जो उत्तरी चीन में पड़ता है। कब हुआ, इस पर थोड़ा मतभेद है। कुछ के अनुसार उनका जन्म 604 ई० पूर्व में हुआ, तो अन्य के अनुसार 571 ई० पूर्व। वैसे ज्यादा प्रामाणिक 604 ई० पूर्व का है। ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व हुए चीन के प्रसिद्ध इतिहासकार 'सिज-मा-सियेन' ने भी उनका जन्म 604 ई० पूर्व माना है। इसी हेनान प्रांत से एक और महान साधक का संबध है जिनसे भारतीय जनमानस सुपरिचित है, वे हैं 'ह्वेनसांग' प्रसिद्ध चीनी बौद्ध भिक्षु-यात्री जो महाराज हर्षवर्धन के काल में भारत आये थे और यहां लगभग 15 वर्ष

रहकर विद्या अध्ययन किये थे, वे भी हेनान प्रांत के निवासी थे।[1]

जहां तक लाओत्ज़े की बात है, लाओत्ज़े, वह नाम जिससे उन्हें जाना जाता है, वस्तुत: उनका व्यक्तिगत नाम नहीं है। यह तो उनका उपनाम है, लोगों के प्रेम और सम्मान का प्रतीक। चीन में नाम के अंत में 'त्ज़ु' या 'त्ज़े' शब्द का जुड़ना सम्मान का प्रतीक है। उनका पारिवारिक नाम 'ली' था जो चीन में बहुधा प्रचलित है। 'लाओत्ज़े' नाम के चार अर्थ बताये जाते हैं, इससे कुछ मनोरंजक किंवदंतियां भी जुड़ी हुई हैं—

1. वृद्ध बालक। वह बालक जो बचपन से ही परिपक्व बुद्धि का हो। कहते हैं, लाओत्ज़े जब पैदा हुए तो उनके सफेद दाढ़ी थी। यह केवल किंवदंती है।
2. लाओ से उत्पन्न। कहते हैं, 'लाओ' नामक कुंवारी कन्या को एक रात्रि, आकाश में टूटते हुए तारे को देखकर गर्भ ठहर गया। समय आने पर उसने एक पुत्र को जन्म दिया। लाओ से उत्पन्न होने के कारण उसके पुत्र का नाम लाओत्ज़े पड़ा।[2]
3. वृद्ध दार्शनिक। परिपक्व उम्र में जब उन्होंने 'ताओ-ते-चिंग' जैसी अमर कृति की रचना की; कहते हैं, कनफ्यूशियस जब लाओत्ज़े से मुलाकात कर वापस गये तो उन्होंने अपने अनुयायियों के बीच लाओत्ज़े की चर्चा लाओत्ज़े-द ओल्ड फिलॉसफर कहकर की।
4. बड़े कान वाला। सम्भवत: उनके कान आम आदमियों की तुलना में बड़े थे। वैसे बड़े कान का होना शुभ व्यक्तित्व का लक्षण माना जाता है।[3] विल्हम आदि विचारकों का मत है कि उनके बड़े कान के नाते ही उनका नाम 'बड़े कानों वाला ली' पड़ा।

युवावस्था में लाओत्ज़े अपनी योग्यता एवं ज्ञान के लिए पूरे प्रांत में प्रसिद्ध थे। वहां के सम्राट ने उन्हें प्रांतीय राजधानी-चाऊ बुलाया और उनकी योग्यता को परखकर एवं उनकी विद्वता का उपयोग करने के लिए उन्हें अपने अभिलेखागार का प्रमुख नियुक्त किया। जिसका काम था सम्राट को विशेष आवश्यकता पड़ने पर सूचना एवं मंत्रणा देना जैसे कि युद्ध-संधिकाल में, विद्रोह-अव्यवस्था को ठीक करने हेतु, तथा न्याय कार्य में भी। अभिलेखागार में कार्यरत रहते हुए उन्होंने चीन के पुराने संत महापुरुषों द्वारा रचित ग्रंथों, वहां के इतिहास, संस्कृति, दर्शन आदि विषयों का विशद अध्ययन किया।

---

1. **मेरी और ह्वेन सां की डायरी, श्री अभिलाष साहेब, कबीर पारख संस्थान, इलाहाबाद से प्रकाशित।**
2. **पुरुष-संबंध के बिना स्त्री को गर्भ नहीं ठहर सकता।**
3. **The Sayings of Lao Tzu by Lionel Giles. Published in London, 1950.**

अपनी प्रौढ़ावस्था तक उन्होंने शासन कार्य में सहयोग दिया, तत्पश्चात उन्होंने राजकीय कार्यों से अवकाश ले लिया। सम्भवत: वे नब्बे वर्ष से भी अधिक दिनों तक जिये। इस बीच सम्राट ने कई बार चाहा कि लाओत्ज़े पुन: उन्हें प्रशासन में सहयोग करें किन्तु वे राजधानी छोड़कर गायब जैसे हो गये और वापस न लौटे।

एक छोटी सी कहानी है। लाओत्ज़े एक सरोवर के तट पर बैठे हुए थे। सरोवर के जल में कई कछुए एक साथ खेल रहे थे। वे कभी किनारे रेत तक आते, विश्राम करते, पुन: सरोवर में लौट जाते। लाओत्ज़े उनकी जल-क्रीड़ा देखने में तल्लीन थे, तभी सम्राट का मंत्री उन्हें ढूंढता हुआ वहां आ पहुंचा। उसने उनसे पूछा, आप सम्राट की बात मानकर उनका प्रमुख सलाहकार बनना स्वीकार क्यों नहीं कर लेते? आप यह निमंत्रण बार-बार क्यों ठुकरा देते हैं? इस बार सम्राट ने मुझे खास हिदायत देकर भेजा है कि आपको लेकर ही राज-दरबार आऊं। आप कृपया सम्राट का प्रस्ताव स्वीकार कर लें। लाओत्ज़े सरोवर की ओर एकटक देखते रहे। कुछ देर चुप रहकर उन्होंने मंत्री से कहा—'आप इन कछुओं का आनंद देख रहे हैं! कितनी स्वतंत्रता से ये सब विचरण कर रहे हैं। आप इनमें से किसी एक कछुए को राजदरबार में चलने के लिए राजी कर लें। यदि आप एक भी कछुए को अपने साथ चलने के लिए राजी कर लेंगे तो मैं भी आपके साथ चल दूंगा।'

मंत्री उनकी बात समझ गया। वह मुंह नीचा कर वहां से चल दिया। सच है 'संतन को कहा सीकरी से काम'। कहते हैं कविकुल भूषण गोस्वामी तुलसी दास जी को मुगल सम्राट अकबर ने अपनी राजधानी फतेहपुर सीकरी आने के लिए आमंत्रण भेजा किन्तु बाबा गये नहीं। वे समझते थे कि हम भक्तों का बादशाह से क्या प्रयोजन?

लाओत्ज़े की अवस्था लगभग नब्बे वर्ष की हो रही थी। उन्होंने अपने को कभी भी प्रमुखता से प्रकट नहीं किया, किन्तु उनकी सुकीर्ति फैल रही थी, लोग उनके दर्शन के लिए आते। एक छोटा सा शिष्य-समूह भी उनके चारों ओर एकत्रित हो ही गया था। ऐसे में एक बार कनफ्यूशियस उनसे मिलने के लिए उनकी कुटिया में पधारे।

2. लाओत्ज़े-कनफ्यूशियस सम्मिलन

कनफ्यूशियस (551-478 ई० पूर्व) नीतिवादी समाज सुधारक थे। उनके नाम की प्रसिद्धि उनके जीवन काल में ही व्यापक रूप से फैल गयी थी। पुराने संत उनके आदर्श थे। वे उनकी शिक्षाओं को सभी प्रकार की सामाजिक व्याधियों के लिए रामबाण मानते थे। वे अपने को 'पुरातन विचारों का प्रेषक, प्रेमी और उन पर निष्ठा रखने वाला न कि सर्जक' मानते थे। पुराने संतों की

शिक्षाओं को लागू करने के लिए वे युवास्वस्था से ही राजाओं से मिलते रहते और उन्हें प्रेरित करते। वे प्रभावशाली थे, विद्वान थे, उनके शिष्य-अनुगामी भी बहुत थे। वे समाज के उच्च कहे जाने वाले सम्भ्रांत परिवार से आये थे। जब कि लाओत्ज़े दूसरी समझ के व्यक्ति थे। राजकाज में लम्बे समय तक जुड़े रहकर वे जान गये थे कि सम्राटों की जनता के कल्याण में कोई रुचि नहीं है। वे तो सिर्फ सत्ता एवं समृद्धि के भूखे हैं, राज्यविस्तार ही उन्हें आनंद देता है। वे जनता से अधिक टैक्स वसूलते हैं और उसे डराकर रखते हैं। साधारण जनता भी अपने स्वार्थों को लेकर आपस में बंटी हुई है। ऐसे वातावरण में वे शांत रहना ही श्रेयष्कर समझते थे। कनफ्यूशियस के उद्देश्यों एवं आदर्शों में उनकी विशेष रुचि न थी। अत: संक्षिप्त बातचीत हुई जिसका भाव आगे दिया जा रहा है।

कनफ्यूशियस का लाओत्ज़े से मिलने के लिए जाना एक ऐतिहासिक घटना है। अनेक ग्रंथकारों ने इस प्रसंग को बढ़ा-चढ़ाकर लिखा है। कनफ्यूशियस के ग्रंथ 'एनालेक्ट्स' में इस मिलन का संकेत है। 517 ई० पूर्व में यह मुलाकात हुई जब कनफ्यूशियस का चाऊ प्रांत में आगमन हुआ। कनफ्यूशियस उस समय 35 वर्ष के युवा थे, जबकि लाओत्ज़े 88 वर्ष की पकी उम्र के थे। कनफ्यूशियस ने विनय पूर्वक उनसे कुछ सुनना चाहा। लाओत्ज़े ने कहा, "वे महापुरुष जिनकी चर्चा तुम करते हो, मर चुके हैं और उनकी हड्डियां गलकर मिट्टी में मिल चुकी हैं, मात्र उनके शब्द रह गये हैं। और यह कि जब श्रेष्ठ मनुष्य को अवसर मिलता है वह ऊंचा उठ जाता है; किन्तु जब परिस्थितियां उसके अनुकूल नहीं होतीं, वह समय को देखकर उसके अनुसार चलता है। मैंने एक धनी व्यापारी के विषय में सुना है जिसके पास धन का विशाल भंडार सुरक्षित है, तो भी वह साधारण ढंग से रहता है; और यह भी कि श्रेष्ठ मनुष्य, यद्यपि वह सदगुणों में पूर्ण है, ऊपर से देखने पर साधारण-मूढ़ जान पड़ता है। अपने श्रेष्ठ होने का अहंकार और तमाम इच्छाओं को दूर रखकर, मन की चालाकी और अनियंत्रित इच्छाओं को हटाकर ही काम बनेगा। इन्हें रखकर किसी का लाभ नहीं हो सकता। तुम्हें मैं इतना ही बता सकता हूं।"[1]

---

1. **Lao Tze said, " The men about whom you talk are dead, and their bones are mouldered to dust; only their words are left. More over, when the superior man gets his opportunity, he mounts aloft; but when the time is against him, he is carried along by the force of circumstances. I have heard that a good merchant, though he have rich treasures safely stored, appears as if he were poor; and that the superior man, though his virtue be complete, is yet to outward seeming stupid. Put away your proud air and many desires, your insinuating habit and wild will. They are of no advantage to you; this is all I have to tell you.''**

(Page 34, Introduction by James Legge, The Texts of Taoism in The Sacred Books of the East, Vol. XXXIX)

पीछे कनफ्यूशियस ने अपने अनुयायियों के बीच जाकर लाओत्ज़े की भूरि-भूरि प्रशंसा की। उन्होंने कहा, ''पक्षियों का उड़ना, मछलियों का तैरना और पशुओं का दौड़ना, मैं इनसे परिचित हूं। किन्तु दौड़ने वाले फंस सकते हैं, तैरने वाले बंसी में फंस सकते हैं और उड़ने वाले का तीर से शिकार सम्भव है। किन्तु इनसे भिन्न ड्रैगन होता है। मैं नहीं जानता कि कैसे वह बादलों के सहारे हवा में ऊपर उठकर स्वर्ग तक पहुंच जाता है। आज मैंने लाओत्ज़े के दर्शन किये और उनकी तुलना सिर्फ ड्रैगन से हो सकती है।''[1] चीन की संस्कृति में ड्रैगन बहुत महत्त्वपूर्ण है। ड्रैगन सर्प के आकार का पंखवाला काल्पनिक प्राणी है, जिसे शुभ मानकर चीन में पूजा जाता है, जैसे हमारे देश में गणेश जी को पूजा जाता है।

यहां ध्यान देने योग्य है कि विद्वान लेखकों ने कनफ्यूशियस और लाओत्ज़े को एक दूसरे के विरोध में खड़ा कर दिया है। अनेक बार लाओत्ज़े की व्याख्या इस ढंग से की जाती है कि वे कनफ्यूशियस के विरोधी जान पड़ते हैं। वस्तुत: ऐसा नहीं है। वैचारिक मतभेद अवश्य हैं किन्तु लाओत्ज़े का प्रेम स्पष्ट है। उन्होंने कनफ्यूशियस को हित की बात समझायी, भले ही उनका स्वर थोड़ा तेज रहा हो; और कनफ्यूशियस ने अपने शिष्यों के बीच उनकी जो प्रशंसा की वह लाओत्ज़े के प्रति उनकी श्रद्धा को दर्शाता है । पीछे दोनों के अनुयायियों ने एक दूसरे के प्रति ऐसा कटुतापूर्ण ढंग से लिखा कि वैमनस्य और द्वेष बढ़ता रहा, सौहार्द घटता गया। अनधिकारी लोगों से और आशा भी क्या की जा सकती है!

3. लाओत्ज़े द्वारा 'ताओ ते चिंग' की रचना

लाओत्ज़े स्वभाव से अंतर्मुख थे। उनकी लौकिकता में कोई रुचि न थी। अपनी यश-कीर्ति को उन्होंने कभी महत्त्व नहीं दिया और अपने को लोगों की नजरों से बचाकर रखा, अपने जीते जी भी और मरने के बाद भी। ईसा से भी पुराने चीन के इतिहासकार 'सिज-मा-सियेन' ने लाओत्ज़े के विषय में लिखा है—He strove towards self-concealment and remaining without name. अर्थात वे अपने को गुप्त रखने के मार्ग पर चले और अनाम रहे।

लाओत्ज़े की महिमा नगर में फैल रही थी। उनके मानने वाले बढ़ रहे थे। साथ ही राज्य की व्यवस्था निरंतर बिगड़ती जा रही थी। लाओत्ज़े उम्र के

---

1. **Confucius said, "I know how birds can fly, fishes swim and animals run. But the runner may be snared, the swimmer hooked, and the flyer shot by the arrow. But there is the dragon: I can not tell you how he mounts on the wind through the clouds, and rises to the heaven. Today I have seen Lao Tze, and can only compare him to the dragon.''(same, page 35)**

अंतिम पड़ाव में थे। उनके पीछे उनका सम्प्रदाय चले, इसकी उन्हें तनिक भी चाहना न थी। वे पूर्णतया निवृत्त थे। ऐसे में एक दिन उन्होंने नगर छोड़ने का मन बना लिया। परम्परा से प्राप्त जानकारी के अनुसार एक प्रातःकाल बिना किसी से कुछ कहे काले बैल की पीठ पर सवार होकर (चीन में बैल पर सवारी करने का प्रचलन रहा है) वे चुपचाप निकल पड़े और आगे बढ़ते रहे। नगर की सीमा पार निर्जन प्रदेश में जाने का उनका विचार था। सीमांत क्षेत्र तक पहुंचने में दिन डूब गया। सीमा-प्रहरी लाओत्ज़े का अनुयायी था। जब उसे उनके उद्देश्य की जानकारी हुई तो उसने उन्हें ससम्मान रोक लिया और सम्राट तक सूचना भेज दी। सम्राट ने संदेश भेजा कि लाओत्ज़े अपने विचार लिखकर दे जायें, तभी उन्हें सीमा पार जाने दिया जाये। सीमा-प्रहरी का भी यही आग्रह था।

लाओत्ज़े विवश हो गये। उन्होंने कहा, 'सत्य कहा नहीं जा सकता और जो कहा जा सकता है, वह सत्य नहीं।' यही उनके ग्रंथ के प्रारम्भिक वचन बने। लाओत्ज़े सीमा पर तीन दिन रुके और लगभग पांच हजार चीनी शब्दों में अपने विचार सूत्र रूप में लिख दिये। उन्होंने ग्रन्थ को कोई नाम नहीं दिया। पीछे चीन के ही एक सम्राट ने, जो उनका प्रशंसक था, उनकी वाणी को 'ताओ-ते-चिंग' नाम दिया।

ताओ=नियम।

ते=सद्‌गुण संपन्न जीवन।

चिंग=पुस्तक।

इस प्रकार 'ताओ ते चिंग' का अर्थ हुआ नियम और सद्‌गुण संपन्न जीवन की पुस्तक। संक्षेप में कहें तो 'नियम और जीवन की पुस्तक'।

लाओत्ज़े वहां से विदा लेकर सीमा पार निर्जन एवं पर्वतीय प्रदेश में चले गये। फिर कोई जान नहीं पाया कि वे किस दिशा में गये, कहां रहे। उम्र नब्बे से ऊपर थी। चीन में ठंड भी जोरों की पड़ती है। पहाड़ी प्रदेश में उनका शरीर कब, कहां छूटा, कोई जानता नहीं। लेकिन उनके वचन 'ताओ ते चिंग' के रूप में अमर हो गये। एक प्रसिद्ध विचारक का कहना है कि 'ताओ ते चिंग' जैसा छोटा सा धर्मग्रंथ गीता या उपनिषद्, धम्मपद या महावीर वाणी, बाइबिल, कुरान या जिन्दावेस्ता की ही कोटि में आता है। किसी से जरा भी कम हैसियत नहीं है इसकी, और कुछ अर्थों में तो यह अनूठा है।

कुछ विचारकों का यह मानना है कि 'ताओ ते चिंग' के साथ यह सीमा पार जाने वाला प्रसंग जोड़कर उसे चित्ताकर्षक बनाया गया है। उनका मानना है कि लाओत्ज़े ने इसे तीन दिन में पूरा नहीं किया था, वरन यह उनकी जीवनभर

की कमाई है, उनकी परिपाक साधना का परिणाम है। लाओत्ज़े ने इसे तीन दिन में विवशतावश लिख दिया, यह कथन सुपाच्य नहीं है।

विवेक से विचार करने पर यह तर्क सही समझ में आता है। 'ताओ ते चिंग' को पूरा पढ़ने पर जरा भी नहीं लगता कि यह एक साथ लिखा गया है वरन पूरे ग्रंथ में उनकी बातें बिखरी हुई हैं। भिन्न विषयों पर यत्र-तत्र सूत्र मिलते हैं। पुराने संतों की वाणी तथा उनके कथनों को बहुलता से उद्‌धृत किया गया है। कोई कारण नहीं है कि इसे तीन दिन का लिखा हुआ माना जाय।

भारतवर्ष में धर्मग्रंथ गीता का बहुत मान है। महाराज श्रीकृष्ण ने युद्ध-भूमि में वीर अर्जुन को इसका उपदेश किया था। पाठक स्वयं सोचें कि युद्ध की परिस्थितियों में, युद्ध के मैदान में क्या निष्काम कर्म योग घटित होता है? युद्ध स्थल सत्संग स्थल कदापि नहीं हो सकता। गीता भावुकता या क्षणिक आवेश में दिया गया बयान नहीं है। यह भारतीय चिंतन की आत्यंतिक ऊंचाई है। इस ग्रंथ की रचना धीरे-धीरे करके अनेक सदियों में हुई है। 'विद्वानों की राय से गीता ईसा पूर्व चौथी शताब्दी की रचना है और महाभारत में रखी गयी है...... परन्तु ईसा के चार सौ वर्ष बाद तक इसमें श्लोक जुड़ते रहे।'[1] इस प्रकार गीता का रचना-काल लगभग आठ सौ वर्षों का है। वस्तुत: गीता-लेखक ज्ञानी एवं श्रीकृष्ण के उपासक थे। उन्होंने प्रवक्ता के रूप में श्रीकृष्ण को ही मुख्य पात्र चुना है और उन्हें ईश्वर सिद्ध करने की चेष्टा की। इसी प्रकार, लाओत्ज़े का यह ग्रंथ उनके जीवन का मधुरस है जो धीरे-धीरे करके उनके जीवनकाल में एकत्रित हुआ जान पड़ता है।

4. 'ताओ ते चिंग' का इतिहास

'ताओ ते चिंग' का मान लाओत्ज़े से कम नहीं है। इसका अंदाजा इसी बात से लगता है कि विश्व के विद्वान लेखकों ने 'ताओ ते चिंग' पर ज्यादा लिखा है और लाओत्ज़े के जीवन पर अपेक्षाकृत कम। इस समय 'ताओ ते चिंग' के लगभग सौ से ऊपर अनुवाद यूरोपीय एवं अन्य भाषाओं में उपलब्ध हैं और नित्य नये-नये अनुवाद सामने आ रहे हैं। विज्ञान प्रौद्योगिकी के बढ़ते कदम एवं इंटरनेट की सुविधा ने इस ग्रंथ को चीन के बाहर जनसामान्य के लिए सुलभ बना दिया है।

'ताओ ते चिंग' की विषय-वस्तु जानने से पहले उसके इतिहास पर एक नजर डाल लें। यह ईसा से लगभग 500 वर्ष पूर्व का ग्रंथ है। ईसा पूर्व के

---

1. **श्री कृष्ण और गीता, श्री अभिलाष साहेब, कबीर पारख संस्थान, इलाहाबाद से प्रकाशित।**

अनेक ग्रंथकारों ने इसे अपने ग्रंथों में उद्धृत किया है। कनफ्यूशियस मतावलम्बियों ने भी इसको मान दिया है। कहते हैं, स्वयं कनफ्यूशियस के ग्रंथ 'एनालेक्ट्स' में इसका एक अध्याय उद्धृत है। इसके अनेक संस्करण मिलते हैं किन्तु सभी संस्करण ईसा पूर्व के हैं, और थोड़े पाठान्तर के साथ मूल स्वर सबका एक समान है। ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व ही यह चीनी भाषा के एक 'क्लासिक'—श्रेष्ठ ग्रंथ के रूप में मान्य हो गया था। राजसत्ता ने भी इसे उपयोगी जानकर इसके पठन-पाठन को प्रोत्साहन दिया। एक सम्राट के बारे में तो कहा जाता है कि अपने दरबार में नियमित रूप से वह 'ताओ ते चिंग' पर चर्चा सुनता था। उस समय उसके मंत्री एवं सहयोगी सभी वहां उपस्थित होते और इस बीच यदि कोई जमुहाई या झपकी लेता, पांव फैलाता या किसी अन्य प्रकार से अपनी अरुचि प्रदर्शित करता तो उसी समय सम्राट द्वारा डांटा जाता। एक दूसरे सम्राट ने अपने मंत्रियों से पूछा कि ताओ का सरकार और प्रशासन चलाने में क्या योगदान हो सकता है? ताओ के मर्मज्ञ ने उन्हें बताया कि ताओ के सहयोग से एक मुर्दा भी शासन को सुचारु रूप से चला सकता है। इसके बारे में एक पुराने संस्करण की भूमिका में, ''सभी वस्तुओं का मूल, सम्राटों का गुरु और जनता का सर्वाधिक मूल्यवान रत्न'' लिखा मिलता है। निश्चय ही यह सब ग्रंथ की महिमा को दर्शाता है।

चीन में कागज और छपाई अत्यंत प्राचीन हैं। सूखे काठ पर सांचों को उभारकर, पौधों की छाल से बनाये गये कागज पर ग्रंथों को छापकर प्रकाशित किया जाता था। 'ताओ ते चिंग' के अनेक संस्करण इसी प्रकार प्रकाशित हुए थे। चीन के सम्राटों ने आज्ञा जारी करके 'ताओ ते चिंग' को स्नातक स्तर के अध्ययन के लिए अनिवार्य विषय घोषित किया। सभी छात्रों के पास इसकी अपनी एक निजी प्रति होती थी; शिक्षाविदों को इसकी प्रतियां भेजी गयीं और इसका अन्य स्थानीय भाषाओं में अनुवाद हुआ। राजधानी में पत्थर पर 'ताओ ते चिंग' के शिलालेख खुदवाये गये। यह सब ईसा पूर्व के युग में होता रहा।

ऐसा नहीं था कि सबने इसको अच्छा ही माना। कनफ्यूशियस के कट्टर अनुयायी सदैव इसकी आलोचना ही करते रहे। कुछ ऐसे भी सम्राट हुए जिन्होंने इसको रद्द करने का भी प्रयास किया। ईसा पूर्व 215 में श्रेष्ठ चीनी ग्रंथों को मंगोल आक्रमणकारियों ने आग लगा दी थी। ईसवी सन् 1200 के आसपास मंगोल आक्रमणकारी कुबलई खान ने चीन पर आक्रमण कर उसे जीत लिया और वहां का शासक बन बैठा। तत्पश्चात उसने ताओ सम्प्रदाय के सभी ग्रंथों को आग लगाकर नष्ट करने का आदेश दिया किन्तु 'ताओ ते चिंग' को छोड़कर; उसका सम्मान कुबलई खान ने भी किया। इस प्रकार ढाई हजार वर्षों की ऊंच-नीच सहकर यह ग्रंथ हमारे बीच सुरक्षित बना हुआ है और यह संपूर्ण मानवता

की धरोहर है, मात्र चीन की नहीं। भारतवर्ष में जैसे वेद, वैसे चीन में 'आई चिंग' एवं 'ताओ ते चिंग'। 'आई चिंग' लाओत्ज़े से भी लगभग बारह सौ वर्ष पुराना ग्रंथ है। जिसके वाक्यों को लाओत्ज़े ने अपने ग्रंथ में उद्धृत किया है।

5. 'ताओ ते चिंग' की विषय-वस्तु

'ताओ ते चिंग' एक जीवन्मुक्त संत का अमृत रस है। जो साधना पथ का पथिक है, वह इसको सहजता से हृदयंगम कर सकता है, वह इसका आस्वादन कर सकता है, उसे इसमें रस मिलेगा। और जो कोई भी मात्र बुद्धि एवं विद्वता के जोर से इसे समझना चाहेगा वह अर्थ का अनर्थ कर बैठेगा। कई लोगों के द्वारा जाने-अनजाने यह दुर्घटना घटी है। पश्चिम के कुछ विद्वानों ने निष्ठापूर्वक 'ताओ ते चिंग' का अनुवाद कार्य किया है, किन्तु ऐसे अनेक स्थल हैं जहां पर वे समझ न सके कि लाओत्ज़े कहना क्या चाहते हैं। उदाहरणस्वरूप, जेम्स लेगी (1815-1897 ई०) का नाम लिया जा सकता है। वे ब्रिटेन के थे किन्तु लम्बे समय तक चीन में रहे और चीनी भाषा एवं संस्कृति के विशिष्ट विद्वान माने गये। उन्होंने प्रसिद्ध जर्मन विद्वान-दार्शनिक मैक्समूलर के 'सैक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट' के संपादन एवं अनुवाद में सहयोग किया। उन्होंने स्वयं बड़े श्रमपूर्वक 'ताओ ते चिंग' का अंग्रेजी अनुवाद किया किन्तु ऐसे अनेक स्थल हैं जहां साधनात्मक रहनी-गहनी की बातें हैं जिन्हें जेम्स लेगी समझ न सके और उन्होंने ईमानदारी से अपनी असमर्थता स्वीकार की है। 'ताओ ते चिंग' अत्यंत गम्भीर है। उसका लघु आकार देखकर उसे हंसी में नहीं उड़ाया जा सकता। इस छोटे से ग्रंथ के एक-एक सूत्र पर अनेकानेक शास्त्र न्योछावर हैं। 'ताओ ते चिंग' में तीन बातें प्रमुख हैं—

1. उत्तम जीवन के सूत्र।
2. विश्व सत्ता को समझने के लिए ताओ का सिद्धांत।
3. शासन एवं शासक हेतु निर्देश।

1. उत्तम जीवन के सूत्र

समुद्र की तली में जैसे मोती बिखरे रहते हैं, 'ताओ ते चिंग' के समस्त अध्यायों में वैसे ही उत्तम जीवन के सूत्र मिलते हैं। ऐसा जीवन जो राग-द्वेष, कलह, शक्ति-भोग की इच्छाओं से परे हो, शिशुवत निर्दोष हो, स्त्री-सुलभ विनम्रता एवं मौन से संयुक्त हो, जल की भांति नीचे रहकर भी पर-उपकार करने वाला हो, नये पौधे की भांति कोमल, लचीला एवं निर्बल हो, अहंकार-शून्य हो—लाओत्ज़े की दृष्टि में उच्च जीवन है। जीवन में सद्गुण ओत-प्रोत हों किन्तु उनका अहंकार न हो, ऐसा जीवन ताओ के निकट है, संयम और शील से सुसज्जित है। लाओत्ज़े ऐसे निर्दोष जीवन को जो ताओ—विश्व-सत्ता के

नियमानुसार हो, उसको 'गुप्त जीवन' (Hidden life) कहते हैं। ऐसा उच्च जीवन जीने वाले विश्व इतिहास में लोग हुए हैं, उनका जीवन एवं उनकी वाणी इसका प्रमाण है।

लाओत्ज़े ने चीन के पुराने संतों के कथनों एवं रहनी को उच्च जीवन के प्रमाण के रूप में अपने ग्रंथ में अनेक स्थलों पर उद्धृत किया है। उदाहरण स्वरूप अध्याय 15, 26, 27, 49, 56, 58, 70 आदि को यथास्थान देखा जा सकता है। संत से तात्पर्य गैरिक या सादा वस्त्र धारण करने वालों से नहीं, अपितु जिनके जीवन में निष्कामता, प्रपंच-शून्यता एवं अंतर्मुखता के लक्षण दिखायी दें। मूल चीनी भाषा में संत के लिए 'शेंग रेन' (Sheng Ren) शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ सामान्यत: अनुवादक Sage/Saint करते हैं; विल्हम ने उसके लिए 'द मैन ऑफ कालिंग' (The Man of Calling) 'पुकार कर कहने वाला मनुष्य' प्रयोग किया है। कबीर साहेब ने भी अपने लिए 'कहहिं कबीर पुकारि के' कहा है।

सांसारिक ऐश्वर्य, यश, कीर्ति, बल, प्रतिष्ठा, आगे बढ़ने की चाह, उच्च पद आदि अहंकार को जन्म देते हैं, फलत: विनाश होता है। प्रकृति में यह स्पष्ट दिखता है। पौधे जब जीवन में प्रवेश करते हैं, कोमल और नाजुक होते हैं। जब वे मजबूत एवं कठोर हो जाते हैं, तब उन्हें काटकर गिरा दिया जाता है। मजबूत, अकड़वाला, कठोर होना ताओ (नियम) के विपरीत है, और ताओ के विपरीत होना विनाश को निमंत्रण देना है। लाओत्ज़े सरल, प्राकृतिक जीवन के पक्षधर हैं। प्रेम, संतोष, अगुआ न बनने की चाहना वाला जीवन ही आत्मसंतोष दे सकता है। पीछे एवं नीचे रहकर जीवन जियें ताकि कलह न हो। जिस प्रकार नदी तथा जलधाराओं की जलराशि समुद्र में मिलती है क्योंकि समुद्र नीचे होता है, उसी प्रकार शासक यद्यपि शक्तिशाली है, परन्तु जब वह अपने को दीन-हीन तुच्छ मानता है, तब वह लोगों का सिरमौर होता है।

2. विश्व सत्ता को समझने के लिए ताओ का सिद्धांत

लाओत्ज़े ईश्वर को लेकर भावुक नहीं हैं। किसी ईश्वर ने सृष्टि रची है, ऐसा वे नहीं कहते। ढाई हजार वर्ष पूर्व जब चीन में ही नहीं, समस्त विश्व सभ्यताओं में दैववाद-बहुदेववाद का प्रचलन था, लाओत्ज़े की वाणी ईश्वरवाद, दैववाद, चमत्कार, अलौकिकता से पूर्णतया मुक्त है। वे वैज्ञानिक अध्यात्म का सूत्रपात करते हैं। वे देखते थे कि व्यक्ति-ईश्वर की कल्पना करके लोगों द्वारा उससे भोग-मोक्ष मांगा जाता है। अत: ईश्वर पर वे मौन रहे, मौन रहकर उसकी उपेक्षा कर दी। उन्होंने कहा, एक नित्य सत्ता है जो ईश्वर से भी पहले की है और वह सत्ता करुणाशील नहीं है। उसे यज्ञ-हवन से संतुष्ट नहीं किया जा सकता। मनुष्य उसके लिए तृण-श्वानवत तुच्छ है। इस नित्य सत्ता को वे

'ताओ' नाम देते हैं। ताओ शब्द से चीन के लोग प्राचीन काल से ही परिचित थे, पुराने सम्राटों द्वारा राज-काज चलाने के लिए जो नियम-विधान बनाये जाते थे, वे ताओ कहे जाते थे। दूसरा अर्थ था आकाश में तारों की गति करने का निर्धारित पथ। लाओत्ज़े ने इसे एक नये अर्थ में प्रयुक्त किया। उन्होंने इसे विश्व प्रकृति में व्याप्त भौतिक नियम तथा प्राणियों के मन-इंद्रियों को संचालित करने वाले मानसिक नियमों का समुच्चय माना। इस प्रकार जिसे विज्ञान में कारण-कार्य व्यवस्था और Eternal laws कहा जाता है, वही लाओत्ज़े के लिए ताओ है। ताओ में किसी व्यक्तित्व की कल्पना नहीं है। नियम में भला कैसा व्यक्तित्व? सृष्टि अनादिकाल से है, निर्मित पदार्थ सूक्ष्म प्रकृति से व्यक्त रूप में प्रकट होते हैं, पुन: चक्र में गति करते हुए सूक्ष्म प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। यही ताओ की गति है। संसार की परिवर्तनशीलता ताओ अर्थात नियम से संचालित है। असत्ता से सत्ता का उदय नहीं होता और सत्ता कभी असत्ता में नहीं जाती। इस प्रकार वैज्ञानिक अध्यात्म का सूत्रपात लाओत्ज़े ने किया। ताओ को ही भारतवर्ष के वेदों में 'ऋत' कहा गया है। 'ऋतस्य तन्तुं विततम्।' अर्थात ऋत के तन्तु सर्वत्र फैले हैं। लाओत्ज़े कहते हैं ताओ के तंतु सर्वत्र हैं। भाषा भिन्न है जबकि विचारसरणी एक समान। जिस प्रकार वेद के ऋषि प्रकृति को लेकर भावुक हो जाते हैं और उसके लिए व्यक्तिवाचक शब्दों में, उसकी महिमा में मंत्र बनाते-गाते हैं, उसी प्रकार लाओत्ज़े भी ताओ को लेकर अभिभूत हैं। छोटे से ग्रंथ में लगभग 75 बार ताओ शब्द आया है। ताओ उनका दार्शनिक चिंतन प्रस्तुत करता है। ताओ के नाम पर उनका मत ताओवाद कहलाता है। विश्व प्रकृति को समझने के लिए उनका प्रयास अत्यंत वैज्ञानिक एवं आधुनिक है।

3. शासन एवं शासक हेतु सूत्र

उस अंधे युग में कबीलों में परस्पर लड़ाई, लूटमार मची रहती थी। लाओत्ज़े प्रथम विचारक हैं जो युद्ध को पूर्णत: अनावश्यक मानते हैं। छोटे-बड़े राज्य दोनों अपनी सनक को पूरा करने में लगे रहते हैं। जबकि लोगों के हितों का ध्यान कोई नहीं रखता। आम जनता इन युद्धों में पिसती, उसी के बेटे-पति-भाई युद्धों में मारे जाते, फसल-सम्पत्ति की हानि होती, युद्ध के बाद भुखमरी फैलती, महामारी फैलती। इन सब कष्टों से जनता जूझती जबकि शासक वर्ग जबरदस्ती कर लेकर आम जनता से अलग हो जाता। लाओत्ज़े युद्ध के पूर्ण विरोधी हैं। किसी हालत में युद्ध का परिणाम दुखदायी है, विजेता हो अथवा पराजित, सबके लिए युद्ध का परिणाम पीड़ा ही है। अत: युद्ध को बचाना चाहिए। छोटा राज्य बड़े का संरक्षण स्वीकार कर ले। बड़ा राज्य अपने को बड़ा न मानकर छोटे राज्य को सहयोग करे। अंतत: दोनों राज्य जनता के लिए हैं।

लाओत्ज़े राजकाज में लम्बे समय तक रहे। अत: वे राजकाज की बारीकियों को समझते थे। उन्होंने 'ताओ ते चिंग' में सम्राट को निर्देश दिया है कि वह अत्यंत सावधानी से शासन करे, वह शासन की कला सीखे। वह अपनी भावी योजनाओं को लोगों के सामने समय से पूर्व प्रकट न करे। सम्राट आम लोगों के जीवन-यापन में हस्तक्षेप न करे। उसका शासन क्षुरधार न हो अपितु संयत हो। सम्राट आदेश देने में संयत हो। वह किसी के गलत करने पर उसे मृत्युदंड न दे। वह पुराने सम्राटों से सीख लेकर ताओ के अनुसार शासन करे। वह अपने को शक्तिशाली मानकर अहंकार न करे अपितु अपने को दीन-हीन तुच्छ समझे। अंतत: एक दिन उसकी यह गति होनी ही है।

चीन में एक प्राचीन परम्परा रही है, युवराज को राजमहल छोड़कर साधारण ढंग से अध्ययन करना होता था। जिससे वह जनता के कष्टों से परिचित हो सके। जब वह परिपक्व होता तब उसे शासन की बागडोर दी जाती। इस प्रकार से प्रशिक्षित सम्राट विनम्र होता था। लाओत्ज़े ऐसा ही सम्राट चाहते हैं जो साधुशाही ढंग का हो, न कि क्षुरधार हो। ऐसे विनयी सम्राट के लिए यूनान के दार्शनिक प्लेटो ने भी कल्पना की है। उसे उन्होंने 'फिलॉसफर किंग' या 'सेज किंग' कहा है।

6. लाओत्ज़े का व्यक्तित्व एवं चिंतन

लाओत्ज़े अध्यात्म की विरल घटना हैं। उनका शरीर भले चीन में जन्मा हो किन्तु उनकी आत्मा का स्वर हमारी हृदय-वीणा के तारों को झंकृत करता है। उनका स्वर ऐसा है मानो उपनिषद् के कोई ऋषि बोल रहे हों, कोई कबीर बोल रहे हों। लाओत्ज़े मानव इतिहास के उन चुनिंदा लोगों में से हैं जिन्हें उंगलियों पर गिना जा सकता है। जैसे कपिल, कणाद, महावीर, बुद्ध, सुकरात, कबीर आदि। ये प्राय: एक लाइन के संत एवं चिंतक हैं। इन सभी की वाणी वैज्ञानिक अध्यात्म प्रस्तुत करती है।[1] ईश्वर के प्रति उदासीनता, कारण-कार्य व्यवस्था पर बल, कर्मफल भोग, पुनर्जन्म, स्व में स्थिति, अंदर हृदय में स्वर्ग का वास, ये सब चिंतन के बीज लाओत्ज़े में स्पष्ट हैं।

लाओत्ज़े का व्यक्तित्व अंतर्मुखी है; वह भीतर की ओर विकसित होता है। उनकी जड़ें भीतर की ओर फूटती हैं और गहरे जाती हैं। उन्होंने कहा है, जो जानता है वह बोलता नहीं, जो बोलता है वह जानता नहीं। उन्होंने सत्य की ओर मात्र संकेत किया है और साथ ही चेतावनी भी दे दी है कि सत्य कहा नहीं जा सकता और जो कहा जा सकता है वह सत्य नहीं। उनका वचन उपनिषद् के ऋषियों का स्मरण कराता है जिन्होंने 'नेति-नेति' कहकर परमतत्त्व

1. इसी ग्रंथ की भूमिका से।

को बखाना है। आधुनिक यूरोप में विटिंगस्टाइन नाम के समर्थ चिंतक हुए हैं, उनका एक सूत्र है—जो कहा नहीं जा सकता, उसे कहना ही मत, चुप रह जाना।[1] इसमें लाओत्ज़े की प्रतिध्वनि सुनायी पड़ती है।

लाओत्ज़े की वाणी ईश्वरवाद, अवतारवाद, पैगंबरवाद, दैववाद, अलौकिकता एवं चमत्कार से पूर्णतया मुक्त है। उन्होंने इनमें से किसी का खंडन नहीं किया, सिर्फ मौन रहे। उनका एक बहुमूल्य वचन है—उत्तम प्रवक्ता को खंडन की आवश्यकता नहीं। कारण-कार्य व्यवस्था, जिसे वे ताओ कहते थे उसको स्थापित किया। मानव सभ्यता के उस प्रारंभिक दौर में सभी सभ्यताओं में देववाद, बहुदेववाद का प्रचलन था। देवताओं का स्वर्ग में वास माना जाता था जो कि मानवीय गुण-चेतना से युक्त थे और प्रेम, दया, करुणा, क्षमा, क्रोध आदि करते थे। मनुष्य जब गलत करता तब वे उस पर क्रोध कर उसे दंडित करते, किन्तु यज्ञ में हवन-दक्षिणा पाकर जब पंडित और राजा, जो पृथ्वी पर उनके प्रतिनिधि थे, उसे क्षमा कर देते तो उन देवताओं का भी कोप शांत हो जाता। लाओत्ज़े ने इस चिंतन की नींव हिला दी। उन्होंने कहा कि एक नित्य सत्ता है जो ईश्वर के भी पहले की है, मानो वह उसकी पूर्वज हो, और वह नित्य सत्ता करुणाशील नहीं है। उसे यज्ञ-हवन द्वारा संतुष्ट नहीं किया जा सकता। इस नित्य सत्ता को लाओत्ज़े ताओ नाम देते हैं। ताओ विश्व-सत्ता के नियमों का समुच्चय है, जहां कोई क्षमा नहीं है और प्रत्येक कर्म कर्ता के सिर पर वापस लौटता है। ताओ का कोई व्यक्तित्व नहीं है। इस प्रकार लाओत्ज़े के वैज्ञानिक अध्यात्म में देवी-देवता, ईश्वर या क्षमा की गुंजाइश नहीं।

लाओत्ज़े अपनी वाणी में स्वर्ग का नाम अनेक बार लेते हैं। उनका स्वर्ग बाहर, ऊपर आकाश में नहीं है; वह भीतर है। मन की कलह-शून्यता ही स्वर्ग है। वे कहते हैं कि वह जीवन जिसमें कलह नहीं, यही है वह ऊंचाई जो स्वर्ग का स्पर्श करती है। कलह किसलिए होता है? अपने स्वार्थों की बढ़ोत्तरी के लिए। संत जगत से मिली हुई गाली और निंदा को निर्विकार भाव से स्वीकार लेते हैं, वे अपने को पीछे और नीचे रखते हैं। अत: उनके जीवन में कलह नहीं। लाओत्ज़े का स्वयं का जीवन इसका प्रमाण है।

लाओत्ज़े आत्मवादी थे। उन्होंने 'सेल्फ' अर्थात 'स्व' का प्रयोग आत्मा के लिए किया। अपने अकेलेपन के बोध में स्थित रहना ही 'स्व' में स्थित होना है। उनका वचन है—जो आत्मसंतुष्ट है वह लज्जित नहीं होता...... और वह सदैव के लिए सुरक्षित हो जाता है। संत अपने मान-सम्मान के प्रति लापरवाह होते हैं और उनका 'स्व' बढ़ता है। वे अपने अहंकार को खो देते हैं और

---

1. **Whatever cannot be said, thereof must not be said.**

उनका 'स्व' सुरक्षित रहता है। चूंकि वे अपने लिए कुछ चाहते नहीं, वे स्वयं पूर्ण हैं।

विल्हम ने अपनी भूमिका में लिखा है कि लाओत्ज़े के 'सेल्फ' (स्व) को कोई अहं न समझ ले। स्व में स्थित होने के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है हृदय का विचारों से पूर्णत: खाली होना, तभी सत्य जानने में आयेगा। लाओत्ज़े सर्वत्र खाली हृदय को ज्ञान और कर्म की उपयुक्त भूमि बताते हैं। वे कहते हैं बाह्यज्ञान क्षणिक है, यह बदलता रहता है। अपने आपका ज्ञान अक्षुण्ण है, जब उसमें मिलावट न हो। अपनी स्थिति तक पहुंचने के लिए बाह्यज्ञान पर्याप्त नहीं। जब सारे दृश्य समाप्त हो जाते हैं, तभी वह सत्य जो कि छिपा हुआ है, शाश्वत व श्रेष्ठ है, सभी एंद्रिक ज्ञान से परे है, शुद्ध व स्पष्ट रूप से उजागर होता है। इसके लिए शिशुवत निर्दोषता चाहिए, उस शिशु की भांति जो अभी इच्छाओं के भंवरजाल में फंसा नहीं। तब स्थिति स्वयमेव स्पष्ट होती है, और वह शाश्वत जीवन को जानने की स्थिति में आता है और उसे जानकर मृत्यु के पार हो जाता है।

लाओत्ज़े पदार्थ-पार दृष्टि वाले हैं। वे शाश्वत जीवन को देखते हैं। संभवत: इसी कारण लाओत्ज़े के कट्टर विरोधी भी यह स्वीकार करने को बाध्य हैं कि यद्यपि संत कुएं की तली में रहते हैं और जगत को नहीं देखते अर्थात अंतर्मुखी स्वभाव के हैं और बाहर की गतिविधि से उदास रहते हैं तथापि वे जो देखते हैं उसका खंडन नहीं हो सकता। लाओत्ज़े ने कहा है कि जो मरकर भी नहीं मरता, वह चिरजीवी है। इस पर जेम्स लेगी ने टिप्पणी की है कि मानव-शरीर कीड़े का खोल या सर्प की केंचुलि की तरह है जिसे हम बहुत थोड़े समय के लिए धारण करते हैं। निस्संदेह, लाओत्ज़े जीव के लिए वर्तमान जीवन के बाद दूसरे जीवन पर विश्वास करते हैं।[1]

लाओत्ज़े इतिहास के उन लोगों में से हैं, जिनका कोई साथी न हो पाया। वे अपने समय के स्वतंत्र चिंतक कहे जा सकते हैं। उन्हीं के लगभग सौ वर्ष बाद यूनान में दार्शनिक सुकरात हुए। वे भी परंपरा से अलग-थलग अपने में रमने वाले संत पुरुष थे किन्तु प्लेटो और अरस्तू जैसे समर्थ शिष्यों ने उनकी वाणी को जीवित रखा। दुर्भाग्य से लाओत्ज़े के साथ ऐसा न हो सका। एक विचारक के अनुसार, लाओत्ज़े ऐसे सुकरात थे जिनको उनका प्लेटो या अरस्तू न मिल

---

1. **The human body is like the covering of the caterpillar or the skin of the snake; that we occupy it for a passing sojourn. No doubt, Lao Tze believed in another life for the individual after the present.**

(Page 30, Tao Te Ching, James Legge)

सका जो उनकी बोयी फसल को काट सके। जहां अन्य लोग अपनी उपलब्धियों को लेकर गर्व से इतराते फिरे, वहीं लाओत्ज़े मौन रहकर अपना कार्य करते रहे और लोगों को अपना महत्त्व दिखाने या अपनी बात समझाने के फेर में नहीं पड़े। अपने समकालीन विचारक कनफ्यूशियस की तरह उन्होंने कोई पंथ स्थापित नहीं किया न उन्होंने इसकी आवश्यकता ही समझी। विश्व प्रकृति के रहस्य को उन्होंने समझा, मानव मन की परख की और उसे अपने शब्दों में कहा। कहीं-कहीं पहेली या संकेत रूप में, जिससे कि उनके पीछे आने वाले वे थोड़े पथिक जो संसार की चमक-दमक में उलझे नहीं, और इस संसार की क्षणभंगुरता, परिवर्तनशीलता को समझने का प्रयास किये, उन्हें सहारा मिल सके और लाओत्ज़े इसमें सफल रहे।

लाओत्ज़े भावुक न थे। संसार के लोगों को वे समझा लेंगे, इस भावुकता में वे कभी नहीं पड़े। लोग उन्हें कम समझ पाये, या गलत समझे, लाओत्ज़े इससे तटस्थ रहे। रिचर्ड विल्हम ने उचित ही लिखा है कि कनफ्यूशियस की तरह लाओत्ज़े को स्वयं के न समझे जाने की समस्या से जूझना पड़ा। दोनों ही संत जिस ढंग से इस तथ्य से निपटते हैं, संभवत: वही उनकी सबसे बड़ी विशिष्टता है। लोगों द्वारा उन्हें न समझा जाना कनफ्यूशियस के लिए सर्वाधिक पीड़ाजनक था, और वे संभवत: इससे कभी उबर न सके। उनका दृढ़ विश्वास था कि उनके पास समाज की सहायता करने के लिए साधन हैं। फिर भी लोग उनका उपयोग करने के लिए तैयार नहीं हैं। जब कि लाओत्ज़े इस समस्या को नगण्य मानते थे। अपने स्वाभिमान और संप्रभुता में रहकर वे इसे तुच्छ मानते थे। वे इस ज्ञान में सुदृढ़ थे कि उनको न समझा जाना अथवा गलत समझा जाना इसका कारण है उनकी शिक्षाओं को न समझना। ताओ जो उनकी शिक्षाओं का और अंतर्निहित नियमों का मूल है, उसे ही नहीं समझा गया, अत: वे भी अनसमझे रह गये। उनकी वाणी में आता है—वस्तुत: इतना कम समझे जाने में ही मेरा मूल्य निहित है। लाओत्ज़े जैसे उच्चश्रेणी और आत्मलीन संत के लिए यह सब सहज और सरल था।

लाओत्ज़े अखण्ड आत्मनिष्ठ हैं। वे अपनी ओर से एकदम निश्चिंत हैं। अगर वे अपनी ओर से इतना निश्चिंत न होते तो वे इतना तीव्र व्यंग्य कैसे करते? 'ताओ ते चिंग' के अध्याय 20 को विद्वतजन लाओत्ज़े का आत्मकथात्मक मानते हैं। जिसमें लाओत्ज़े संसार के लोगों पर, उनकी चमक-दमक, उनके भोग-विलास, सुख-साधनों की प्रचुरता आदि पर तीखा व्यंग्य करते हैं। दूसरी ओर अपने लिए उन्होंने नवजात शिशु की भांति जिसके अभी मुस्कान भी नहीं उभरी, मूढ़, अव्यवस्थित, अत्यंत उदास, गंदला, लहरों की तरह भटकता हुआ आश्रयहीन, अशांत, व्यर्थ, भिखारी आदि विशेषणों का प्रयोग

किया है। फिर भी उन्होंने अपने जीवन को श्रेष्ठतर और उत्तम माना है, क्योंकि वे ताओ (नियम) के निकट स्थित हैं। कबीर साहेब ने भी अपने पर व्यंग्य किया है—कहहिं कबीर सब खलक सयाना, इनमें हमहिं अनारी। दुनिया के लोग बहुत सयाने हैं, ज्ञानी हैं; इनमें हम ही एक अनाड़ी हैं।

7. लाओत्ज़े और कबीर

लाओत्ज़े को पढ़ते हुए कबीर पदे-पदे याद आते हैं। एक विचारक ने तो लिखा है कि लाओत्ज़े को कबीर ने समझा। लाओत्ज़े की झांकी कबीर में देखने को मिलती है, जीवन में भी और विचारों में भी।

लाओत्ज़े और कबीर दोनों परम संत हैं। दोनों स्वतंत्र चिंतक हैं। उनके बीच दो हजार वर्षों का अंतर है। यदि देश-काल के इस अंतर को नजरअंदाज कर दिया जाये तो दोनों के विचार एवं व्यक्तित्व घुलकर एक हो जाते हैं। लाओत्ज़े ने अपने विचारों को सूत्र रूप में या बीज मंत्रों की तरह 'ताओ ते चिंग' में व्यक्त किया है; कबीर की वाणी का नाम ही 'बीजक' है। जिसका भाव है बीज रूप में निहित ज्ञान। दोनों ही आत्मतृप्ति के सर्वोच्च शिखर पर विराजमान हैं। समाज के लोगों को चेताने के लिए करुणावश दोनों ने श्रम किया किन्तु भावुक होकर नहीं। कबीर कहते हैं—मैंने सबके कल्याण के लिए समान सत्पथ बता दिया है, परन्तु मुझे कोई समझ न पाया। तो भी, मैं पहले संतुष्ट था, आज संतुष्ट हूं तथा आगे भी संतुष्ट रहूंगा। मेरी अपनी संतुष्टि में कोई कमी नहीं है।[1] लाओत्ज़े की वाणी में आत्मतृप्ति का भाव छलकता है। संत-इतिहास में एक अद्‌भुत संयोग की घटना! जीवन के अंतिम वर्षों में दोनों ही महापुरुष अपने-अपने नगर को छोड़कर अंजान-सी जगहों को अपने देहावसान के लिए चुने। लाओत्ज़े का 'चाऊ' राज्य छोड़कर निर्जन प्रदेश में जाना, कबीर का काशी छोड़कर मगहर जाने की घटना का स्मरण कराता है। जिस प्रकार परम्परागत सोच से हटकर अपने प्रखर चिंतन, तार्किक विचारधारा के लिए कबीर भारतीय मध्ययुग में विशिष्ट हैं, उसी प्रकार प्राचीन चीन में लाओत्ज़े अपने खरे ज्ञान एवं वैज्ञानिक सोच के नाते विशिष्ट हैं।

8. लाओत्ज़े का प्रभाव

लाओत्ज़े की चमक ढाई हजार वर्ष बाद भी क्षीण नहीं हुई। उनके जीवनकाल में ही उनकी अंतर्मुख रहनी का लोगों पर व्यापक प्रभाव पड़ा था। यहां तक कि कनफ्यूशियस के अनुयायी जो अपने युवा दिनों में समाज को

---

1. **हम तो सबकी कही, मोको कोई न जान।**
तब भी अच्छा अब भी अच्छा, जुग-जुग होउँ न आन॥ बीजक, साखी, 183॥

बदलने के लिए कमर कसे हुए थे और जीवनभर लाओत्ज़े को कूप-मंडूक कहकर व्यंग्य करते रहे, वे अपने तमाम प्रयासों के बाद भी जब समाज में अपेक्षित सुधार न कर पाये और उनको अपना जीवन भी व्यर्थ जाता हुआ दिखा, तब वे लाओत्ज़े के बताये अनुसार समुद्र के किनारे या पर्वत की गुफाओं में एकांत ढूंढ़कर आत्मशोधन के लिए उन्मुख हुए और उनकी रहनी का अनुसरण किये। वर्तमान में लाओत्ज़े का आकर्षण और गहरा रहा है। उनकी अंतर्मुखता में रहस्य समाया हुआ है, जो यूरोपीय और पाश्चात्य लोगों को उनकी ओर आकर्षित कर रहा है। भौतिक समृद्धि व वैज्ञानिक उपलब्धियां उनके मन के खालीपन को भरने में असफल रही हैं। अत: लाओत्ज़े की वाणियों पर मनन-चिंतन बढ़ा है। ताओ नाम लोगों को आकर्षित कर रहा है। लेखक ताओ नाम का प्रयोग कर रहे हैं। अभी कुछ वर्ष पूर्व ही 'द ताओ आफ फिजिक्स' तथा 'द ताओ आफ फू' ग्रंथ प्रकाशित हुए। पर्यावरण अध्ययन के क्षेत्र में भी ताओ को जोड़कर देखा जा रहा है। ताओ विश्व परिदृश्य में चीन की पहचान बनकर उभर रहा है।

९. लाओत्ज़े का दुरुपयोग

लाओत्ज़े को ताओवाद का जनक माना जाता है, किन्तु उनके पूर्व भी चीन में ताओवाद एक पंथ के रूप में था। लाओत्ज़े का शरीर छूटने के सौ वर्ष के भीतर ही उन्हें अवतार मानकर देवता के रूप में उनकी पूजा प्रारम्भ हो गयी। वर्तमान ताओवाद का आधार उनकी रचना 'ताओ ते चिंग' नहीं है। लाओत्ज़े का स्वर जो 'ताओ ते चिंग' में व्यक्त होता है उसमें भीड़ जुटाने की क्षमता नहीं है। वह विशुद्ध ज्ञान है। अत: उनके वर्तमान अनुयायी अन्य वाणियों को अपने मत का आधार मानते हैं, और आवश्यकता पड़ने पर 'ताओ ते चिंग' की भी मनमानी व्याख्या कर अपना स्वार्थ साधते हैं। लाओत्ज़े के ग्रंथ 'ताओ ते चिंग' में भूत-प्रेत की मान्यता बची रह गयी है, जिसका दुरुपयोग उनके अनुयायियों ने किया है। उन्होंने लाओत्ज़े के विशुद्ध ज्ञान को छोड़कर चीन की लोक मान्यताओं को अपने में समाहित कर लिया है और जादू-टोना, मंत्र-तंत्र, ज्योतिष, यज्ञ-हवन, बलि, भूत-प्रेत, झाड़-फूंक आदि कर्मकांड आज के ताओवाद की प्रमुख पहचान बन गये हैं। अपने जादू-मंतर का प्रभाव डालने के लिए अनेक बार इस पंथ के लोगों ने प्रशासन को ही उखाड़ फेंकने का षडयंत्र रचा, अत: पकड़े गये, दंडित हुए; और यह सब लाओत्ज़े के नाम पर हुआ है। लाओत्ज़े का वास्तविक स्वरूप ढक ही गया था, उन्हें एक मिथक-पौराणिक व्यक्तित्व मान लिया गया था। भला हो यूरोपवासियों का जिन्होंने उनके वास्तविक चिंतन को खोज निकाला। ताओवाद के अनुयायियों की वर्तमान संख्या करोड़ों में है, और वे चीन सहित पूर्वी एशिया के अनेक राष्ट्रों जापान,

कोरिया, सिंगापुर, ताइवान आदि में फैले हैं। आधुनिक विद्वान लाओत्ज़े की प्रशंसा एक स्वर से करते हैं किन्तु वे वर्तमान ताओवाद को लाओत्ज़े से नहीं जोड़ते।

यह दुर्घटना लाओत्ज़े के साथ ही हुई हो, ऐसा नहीं है। यह सर्वत्र देखने में आता है कि प्रवर्तक की अनुपस्थिति में अनुयायियों की प्रवंचना उभर आती है। भौतिक स्वार्थों में फंसकर वे अपने प्रर्वतकों के वचनों की अवमानना करते हैं और विपरीत साधनों का प्रयोग करने में भी नहीं हिचकते। हमारे देश में श्रीकृष्ण एवं कबीर साहेब प्रमाण हैं इस बात के।

भारतवर्ष के पुराकाल में श्रीकृष्ण एक स्वतंत्र चिंतक एवं क्रांतिकारी पुरुष हुए। ऋग्वेद में उन्हें इंद्र का विरोधी, वन्यजातियों का नायक, घोर गर्जना करने वाला, तीव्रगामी, सूर्य के समान तेजवान बताया गया है। छांदोग्य उपनिषद् में उत्तम आध्यात्मिक जिज्ञासु के रूप में उनकी चर्चा है। महाभारत में वे एक महान राजनेता के रूप में उभरते हैं। उनका तेज देखकर आगे चलकर उन्हें नारायण का अवतार ही घोषित कर दिया गया। फिर उनकी महिमा में जो शास्त्र लिखे गये उनमें उनका रूप ही विकृत कर दिया गया। हरिवंश पुराण, भागवत पुराण आदि में उन्हें सैकड़ों-हजारों स्त्रियों के साथ रास करने वाला रसिया बना दिया गया। माधुर्य-भक्ति के रसिक भक्त-कवियों ने उनका जो शृंगारिक चित्रण किया है, उसने श्रीकृष्ण के क्रान्तिकारी तथा आध्यात्मिक रूप पर धूल डाल दी है। अब भारतवर्ष में श्रीकृष्ण के मूलरूप की चर्चा कोई नहीं करता, वे हिन्दुओं के दस अवतारों में एक अवतार बनकर रह गये हैं। यह उनके अनुयायियों की लीला है।

एक दूसरा उदाहरण। कबीर साहेब को हुए अभी मात्र छह सौ वर्ष बीते हैं, और उनकी महिमा बताने के लिए अनेक पोथियां रची गयीं, उन्हें चारों युगों में अवतार लेने वाला बताया गया, उन्हें भवफंद काटने वाला बताकर पूजा जा रहा है और यह सब करने वाले कबीर के अनुयायी कहलाते हैं।

भारतवर्ष हो, चीन हो या अन्य कोई राष्ट्र; लाओत्ज़े हों, कृष्ण हों या कबीर, सभी जगह अनुयायियों की मूल समस्या एक ही है—भौतिक ऐश्वर्य का प्रबल आकर्षण। डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि लोग केवल सत्य को पाने के लिए देर तक टिके नहीं रह सकते। उन्हें धन चाहिए, मान चाहिए, यश चाहिए, कीर्ति चाहिए। यह प्रलोभन 'सत्य' कही जाने वाली बड़ी वस्तु से अधिक बलवान साबित हुआ है.....इसे द्विवेदी जी ने 'घर जोड़ने की माया' कहा है। यही काम श्री राम, महावीर, बुद्ध आदि सभी महापुरुषों के साथ उनके अनुगामियों ने किया है।

10. 'ताओ ते चिंग' के अन्य अनुवाद और भाष्य

'ताओ ते चिंग' पर अन्य चीनी साहित्य की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया गया है। इस पर चीन के बाहर भी लिखा गया है, चीन में तो लिखा ही गया है। ईसा पूर्व ही इस पर अनेक भाष्य हुए हैं। कुछ तो सम्राटों द्वारा किये गये हैं। एक ही राजवंश के तीन सम्राटों ने इस पर भाष्य लिखे थे। यहां दो प्रमुख पुराने भाष्यकारों की चर्चा की जा रही है, जिनके भाष्य अभी भी अनूदित होकर प्रकाशित हो रहे हैं।

प्रथम है, 'हो-शांग-कुंग' का भाष्य। यह सर्वाधिक पुराना उपलब्ध भाष्य है। 'हो-शांग-कुंग' ईसा से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व हुए। वे ताओ मत के अनुयायी थे, एवं 'ताओ ते चिंग' के अध्येता माने गये। उनका भाष्य यूरोपीय भाषाओं में अनूदित होकर आज भी प्रकाशित हो रहा है। अनेक स्थलों पर यह लाओत्ज़े की वाणी को स्पष्ट करता है किन्तु अनेक स्थलों पर यह उलझाव भी पैदा करता है। यह थोड़ा चमत्कारिक मान्यता वाला है। पुराना होने से इसका विद्वानों में मान है।

दूसरा भाष्य है, 'वैंग बी' (226-249 ई०) नामक 24 वर्षीय नवयुवक का जिसका 249 ई० में एक बीमारी से असमय ही शरीर छूट गया। वह बड़ा योग्य था। वस्तुत: वह कनफ्यूशियस के मत का अनुयायी था। किन्तु 'ताओ ते चिंग' ने उसे प्रभावित किया, अत: वह उसके अध्ययन में लगा और उसने उस पर भाष्य भी लिखा। विद्वानों के बीच 'वैंग बी' के भाष्य का विशेष महत्त्व है। यह भाष्य ज्यादा स्पष्ट, प्रामाणिक और बुद्धिगम्य है।

अन्य भाष्यों के साथ, इन दोनों भाष्यों का आधार लेकर ही यूरोपीय लेखकों ने 'ताओ ते चिंग' का अनुवाद किया है। 19वीं शताब्दी में यूरोप से चीन पहुंचे ईसाई मिशनरियों, जैसे जूलियन, स्ट्रास, जेम्स लेगी और रिचर्ड विल्हम का अनुवाद कार्य प्रामाणिक माना जाता है। इधर कुछ वर्षों से अमरीका के विद्वानों ने भी 'ताओ ते चिंग' पर ध्यान दिया है। जेम्स लेगी के बारे में पीछे बताया जा चुका है। रिचर्ड विल्हम (1873-1930 ई०), जिनके पाठ के आधार पर यह भाष्य लिखा गया है, वे जर्मनी के थे एवं चीन में 20 वर्ष रहे। उन्होंने चीनी भाषा के अनेक ग्रंथों का अनुवाद किया है तथा वे चीनी भाषा-साहित्य के समर्थ विद्वान माने गये। 'ताओ ते चिंग' एवं 'आई-चिंग' के अनुवाद उनके श्रेष्ठ अनुवाद हैं।

11. वर्तमान परिदृश्य और यह भाष्य

हिन्दी में 'ताओ ते चिंग' के अनुवाद या भाष्य दिखते नहीं। संभवत: हिन्दी लेखकों का ध्यान इधर गया ही नहीं। पुराने चीनी भाष्य जिनके विषय में ऊपर

बताया गया है, वे स्पष्ट नहीं हैं, कारण चाहे जो भी हो। पिछली सदी में जो काम यूरोप के लेखकों ने किया है वह बुद्धिगम्य एवं स्पष्ट दिखता है, फिर भी अनेक ऐसे स्थल हैं जिनका भेद वे खोल नहीं पाते।

लाओत्ज़े कहना क्या चाहते हैं? इस पर विचार किये बिना ही कई बार विद्वान उनके शब्दों में ही उलझ जाते हैं। वे अपनी विद्वता एवं जानकारी में पड़कर साधनात्मक बातों के विषय में संदेह पैदा कर देते हैं। उदाहरण स्वरूप 'ताओ ते चिंग' का अध्याय 50, जिसका भाव है कि ताओ के अनुसार जीने वाला व्यक्ति भले ही सेना के मध्य से गुजर जाय किन्तु उनके अस्त्र-शस्त्र से वह अप्रभावित रहेगा; सघन वन से निकल जाय किन्तु हिंसक जीवों के वार से आहत नहीं होगा। जेम्स लेगी ने इस पर टिप्पणी की है कि लाओत्ज़े का कथन स्पष्ट नहीं है। ऐसा लगता है मानो लाओत्ज़े काव्यात्मक-कल्पना कर रहे हों कि ताओवादी कभी खतरे में नहीं पड़ सकता। लेगी साहब संत-वाणी का मर्म नहीं समझ पा रहे हैं। वस्तुतः मृत्यु का भय तो उसको होता है, जिसे शरीर से राग है। संत का अहंकार-ममकार पहले ही मर गया है, अब उसे मरने का क्या भय! वह तो निर्भय आत्मस्थिति के साम्राज्य में जी रहा है। सेना के बीच से गुजरना, वन्य जीवों के बीच से निकलना—ये सब लाक्षणिक कथन हैं, किन्तु लेगी साहब इन्हीं में उलझ गये।

रिचर्ड विल्हम की टिप्पणियां ज्यादा प्रौढ़ हैं। किन्तु संतवाणी को समझने की उनकी भी एक सीमा है क्योंकि यह विषय वाणी का नहीं, रहनी का है। संत की वाणी को कोई संत ही प्रामाणिक ढंग से व्याख्यायित कर सकते हैं, क्योंकि वे एक ही पथ के पथिक हैं, ऐसा हमारा निर्दोष विश्वास है।

भारतवर्ष में लाओत्ज़े पर विशेष लिखा नहीं गया है। संभवतः यहां पर संतों की इतनी समृद्ध परंपरा रही है कि लोगों को सीमा पार देखने का अवकाश ही नहीं मिला। भारत भूमि सदैव ही ऋषि-मुनि एवं संतों की वाणी से गुंजायमान रही है। तथागत बुद्ध का बौद्ध धर्म भारत से ही चीन पहुंचा है। इस प्रकार भारत चीन के लिए बहुत पहले से ही धर्मगुरु रहा है। अतीत में इन दोनों राष्ट्रों के रिश्ते मधुर रहे हैं। पुराने इतिहास में कभी ऐसा अवसर नहीं आया कि किसी चीनी सम्राट ने यहां हमला किया हो, किन्तु वर्तमान चीन की स्थिति अलग है। भारतवर्ष में धर्म-अध्यात्म अभी भी फल-फूल रहा है, जबकि चीन में सरकार ने धार्मिक गतिविधियों को अपने नियंत्रण में ले लिया है। वर्तमान चीन कम्युनिस्ट राष्ट्र है। सन् 1950 से चीन में कम्युनिस्ट पार्टी का शासन है। इस प्रकार कम्युनिस्ट पार्टी ही वर्तमान चीन की अधिष्ठात्री देवी है। उसके सामने बुद्ध, लाओत्ज़े, कन्फ्यूशियस, दलाई लामा आदि धर्मगुरु सब बौने हो गये हैं। और सारे धर्म अफीम की तरह नशा पैदा करने वाले मान लिये गये हैं। अब

वहां के धर्मगुरु सरकार के अनुसार सोचते-बोलते हैं, अपने प्रर्वतकों के सिद्धांतों के अनुसार नहीं। चीन की सरकार की नीति भी हिंसक और आक्रामक है, पहले की तरह अहिंसक नहीं। सम्पूर्ण विश्व मौन साधे देख रहा है कि चीन अपने लोगों, अपनी सांस्कृतिक-धार्मिक परम्परा एवं लोकतांत्रिक मूल्यों के साथ कैसा व्यवहार कर रहा है।

वर्तमान विश्व परिदृश्य में तीन महापुरुषों के प्रति लोगों का आकर्षण निरंतर बढ़ रहा है—ईरान के संत मौलाना जलालुद्दीन रूमी, भारतवर्ष के संत कबीर एवं चीन के संत लाओत्ज़े। रूमी साहब का ग्रंथ 'मसनवी', कबीर साहेब का ग्रंथ 'बीजक' एवं संत लाओत्ज़े का ग्रंथ 'ताओ ते चिंग' उनकी वाणियों का सार है। हिन्दी में लाओत्ज़े पर यह भाष्य लोगों के बीच प्रस्तुत करते हुए मन में हर्ष हो रहा है। इस ग्रंथ के भाष्यकार पूज्यवर गुरुदेव संत श्री अभिलाष साहेब जी की लेखनी से अब तक अनेक ग्रंथ रत्न निकले हैं। वे अनेक बार कहते हैं, ''पहले मैं केवल शिव, विष्णु, राम और कृष्ण का उपासक था। अब कबीर को पाकर ऐसी दृष्टि मिली है कि संसार के सभी महापुरुष बुद्ध, महावीर, लाओत्ज़े, कन्फ्यूशियस, सुकरात, ईसा, मोहम्मद, नानक आदि मेरे हो गये।'' ऐसी प्रेममयी दृष्टि रखने वाले संतप्रवर ने कबीरवाणी, वेदवाणी, बुद्धवाणी, पातंजल योगसूत्र, गीता, उपनिषद्, शांकर-विवेक चूडामणि आदि पर अपने भाष्य लिखे हैं। जिन्हें जनता से अपूर्व प्रेम मिला है। इसी क्रम में चीनी संत लाओत्ज़े के ग्रंथ 'ताओ ते चिंग' पर उनका भाष्य प्रस्तुत है। संतवाणी देश-काल की भौतिक दूरी का भेद नहीं मानती। संत की रहनी की सुगन्धि हवा की विपरीत दिशा में भी जाती है, ऐसा तथागत बुद्ध ने कहा है। पुराने संतों का मेल-मिलाप, सौहार्द्र का भाव हमारे मन में पुनः जागृत हो, ऐसी शुभ कामना है।

कबीर आश्रम, कबीर नगर
इलाहाबाद
12 जून 2009 ई०

विनम्र
देवेन्द्र दास

अनुक्रमणिका

सद्गुरवे नमः

चीन के दार्शनिक संत

लाओत्ज़े क्या कहते हैं?

(ताओ-ते-चिंग)

1. ताओ क्या है?

1. *The DAO that can be expressed*
   is not the eternal DAO.
   The name that can be named
   is not the eternal name.

2. *'non-existence' I call the beginning of Heaven and Earth.*
   'Existence' I call the mother of individual beings.

3. *Therefore does the direction towards non-existence*
   lead to the sight of the miraculous essence,
   the direction towards existence
   to the sight of spatial limitations.

4. *Both are one in origin and different only in name.*
   In its unity it is called the secret.
   The secret's still deeper secret
   is the gateway through which all miracles emerge.

अनुवाद

1. *ताओ, जिसको व्यक्त किया जा सके,*
   शाश्वत ताओ नहीं है।
   नाम, जिसको बताया जा सके,
   शाश्वत नाम नहीं है।

2. अव्यक्त को मैं स्वर्ग और पृथ्वी का प्रारंभ कहता हूं।
व्यक्त को मैं सम्पूर्ण देहधारियों की जननी कहता हूं।

3. अतएव,
अव्यक्त की ओर संकेत उधर ले जाता है,
जिधर उपस्थित है अद्‌भुत सार;
व्यक्त की ओर संकेत,
आकाशीय सीमा को दर्शाता है।

4. दोनों मूलतः एक हैं,
और अंतर केवल नाम का है।
उसकी एकता को ही रहस्य कहा जाता है।
रहस्य का और गहन होना ही
प्रवेश द्वार है उसका जिससे सारे आश्चर्य प्रकट होते हैं।

भावार्थ—1. व्याख्या करके जिसको समझाया जा सके, वह शाश्वत ताओ नहीं है। जिस नाम को मुंह से बताते हैं, वह शाश्वत नाम नहीं है।

2. जो दृश्यमान नहीं है उस मूल प्रकृति को मैं व्याप्त ताराओं के सहित पृथ्वी का मूल मानता हूं; और जो दृश्यमान संसार है, इसे मैं संपूर्ण देहधारियों की माता मानता हूं।

3. इसलिए अव्यक्त का निर्देश उस तरफ ले जाता है जिधर मूल प्रकृति है। वही संसार की आश्चर्यजनक विचित्रताओं का सत्य है। और व्यक्त का निर्देश रेखांकित करता है आकाश में फैले हुए निर्मित पार्थिव पिण्डों को, जो सीमाबद्ध हैं।

4. अव्यक्त और व्यक्त दोनों मूलतः एक हैं। इनमें भेद केवल नाम का है। अव्यक्त-मूल प्रकृति और व्यक्त पार्थिव जगत की एकता को गोपनीय स्थिति एवं रहस्य कहा जाता है। उस रहस्य के अधिक गहरा होते जाने पर वहां पहुंचना होता है जहां से विचित्रता भरे संपूर्ण अद्‌भुत पदार्थों का प्रकटीकरण होता है।

भाष्य—इस प्रथम अध्याय में पहला शब्द 'ताओ' है। इसके बाद नाम, अव्यक्त, व्यक्त, रहस्य, आश्चर्य आदि महत्त्वपूर्ण शब्द हैं जिन्हें समझना आवश्यक है। वैदिकों के चार वेदों में प्रथम और बड़ा ऋग्वेद है; वह **अग्नि** से प्रारम्भ होता है—**अग्निमीळे**। प्रसिद्ध बुद्धवाणी धम्मपद का आरंभ होता है **मन** से—**मनोपुब्बगमा**। प्रसिद्ध कबीरवाणी बीजक का आरम्भ होता है **अन्तर्जोति** से—अन्तरज्योति शब्द एक नारी। इसी प्रकार संत लाओत्ज़े की वाणी शुरू होती है 'ताओ' से।

वैदिक ऋषि कर्मकांडी हैं। वे अग्निपूजक थे; इसलिए वे अग्नि से अपना वेद शुरू करते हैं। तथागत बुद्ध मनोविज्ञान पर बल देने वाले थे, इसलिए वे मन से अपनी बात शुरू करते हैं। कबीर साहेब आत्मज्ञान पर बल देने वाले थे, इसलिए वे अपनी बात अन्तर्जोति-अंतरात्मा से शुरू करते हैं। इसी तरह संत लाओत्ज़े ताओ पर बल देते हैं, इसलिए वे अपनी बात ताओ से शुरू करते हैं।

ताओ क्या है? संत लाओत्ज़े ईसा के छह सौ वर्ष पूर्व चीन देश में जन्में थे। उनके ढाई हज़ार वर्ष पूर्व, अर्थात आज ईसा की इक्कीसवीं शताब्दी के पांच हजार वर्ष पूर्व चीन में ताओ कहा जाता था सम्राटों एवं राजाओं द्वारा आम जनता के पालन के लिए बनाये गये नियमों एवं विधानों के समुच्चय को और आकाशी ताराओं की गति के निश्चित पथ को भी। ताओ के अर्थ वे (रास्ता), रीज़न (कारण), वर्ड (शब्द) और सत्य भी हैं।

परंतु संत लाओत्ज़े की इस पुस्तक के मनन-चिंतन के बाद जो समझ में आता है, उससे सिद्ध होता है कि उनका ताओ विश्वव्यापी नियम है, जो वैदिक ऋषियों का ऋत है, विज्ञान का यूनिवर्सल लॉ है और पारख सिद्धांत की कारण-कार्य-व्यवस्था है। इसी को धर्म कह सकते हैं। वह धर्म नहीं, जो संप्रदायवाचक है; अपितु पदार्थों का मौलिक गुण एवं स्वभाव जैसे जल का शीतल धर्म, आग का गरम धर्म आदि। भारत में वैदिक काल में जब ऋत विश्वव्यापी नियम के अर्थ में प्रयुक्त होता था, तब चीन में ताओ राजाओं द्वारा जनता के पालन के लिए बनाये गये नियम के रूप में प्रयुक्त होता था।

संत लाओत्ज़े बहुत गंभीर चिंतक हैं। उन्होंने कहा, **जिसे व्यक्त किया जा सके वह शाश्वत ताओ नहीं है।** राजाओं द्वारा जनता के पालन के लिए बनाये गये नियम व्यक्त किये जाते हैं, बताये जाते हैं। यह शाश्वत ताओ नहीं हो सकता। यह भिन्न देश और काल में बदल जाता है। विश्वव्यापी नियम शाश्वत है। संसार में एक जड़ात्मक सृष्टि है जो केवल जड़-पदार्थों से बनती-बिगड़ती रहती है; और दूसरी जड़-चेतनात्मक सृष्टि है, जो प्राणियों का विस्तार है। निर्माण उसमें भी जड़ का ही है, परंतु उसमें चेतन का निवास है और उसके विविध कला-कौशल और ज्ञान-विज्ञान हैं। इन समस्त जड़-चेतन सृष्टियों में ऋत—पदार्थों के स्वतः निहित गुण-धर्म—व्याप्त है। यही ताओ है जो शाश्वत है, नित्य है, इटरनल है।

इसे पूरा-का-पूरा कह पाना, व्यक्त कर पाना, बता पाना कठिन ही नहीं, असंभव है। हम जड़-चेतन के कुछ नियमों को जानकर काम चलाते आये हैं। आज विज्ञान युग है। हम समझते हैं कि हम मूल प्रकृति के बहुत नियमों को जान गये हैं; परन्तु जितना हम अभी तक नहीं जाने हैं वह समुद्र बराबर अगाध है और जो जान पाये हैं वह चुल्लू भर पानी की तरह है। महान वैज्ञानिक न्यूटन

ने कहा है कि हम वैज्ञानिक अभी तक प्रकृति-सागर के किनारे बैठे सीप और घोंघी बटोर रहे हैं।

एक ही पेड़ में अनेक रंग के फूल होते हैं। एक फूल में अनेक रंग होते हैं। हिरण के सींग ऐंठे होते हैं। वस्तुओं के, पेड़-पौधों के, जानवरों के शरीरों में कितने रंग, विचित्रता तथा चित्रकारियां होती हैं। यह सब कैसे बन जाता है? आज तक दो मनुष्यों के चेहरे ही नहीं, आवाज़ भी एक जैसी नहीं मिली। केवल वर्तमान को लें; छह अरब से अधिक आदमी पृथ्वी पर हैं, परन्तु सबके चेहरे तथा आवाज़ भिन्न हैं। इनमें शाश्वत ताओ, विश्वव्यापी नियम, ऋत एवं यूनिवर्सल लॉ का प्रभाव है। वर्षण, अवर्षण, भूचाल, ऋतुओं का परिवर्तन, संसार की सारी व्यवस्था ही ताओ से, विश्वव्यापी नियमों से संचालित है। शरीर में, मन में सब जगह तो ताओ विद्यमान है। अधिक खाओगे तो स्वास्थ्य खराब होगा, बहुत कम खाओगे तो दुर्बलता आयेगी; किंतु संतुलित खाओगे तो स्वास्थ्य ठीक रहेगा। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, राग, द्वेष, चिंता, उद्वेग तथा इनके विरुद्ध निर्मलता, शांति, संतोष, वैराग्य, निर्भयता, निश्चिंतता, उद्वेग-शून्यता, प्रशांति, सब ताओ से, नियम से ही आते हैं। देहासक्ति रखेंगे तो काम उदय होगा, अहंकार-कामना रखेंगे तो क्रोध उत्पन्न होगा, वैराग्य-भाव से मन निर्मल होगा, इत्यादि।

केवल भूतों-जड़तत्त्वों से बनी जड़-सृष्टि है जो भौतिक है और दूसरी सृष्टि प्राणियों की है, जिनकी देहें तो भौतिक अवश्य हैं, परन्तु उनमें चेतन निवास करते हैं। इसलिए उनमें मन है। अतएव चेतन सृष्टि मानसिक है। इस प्रकार भौतिक और मानसिक दोनों सृष्टियों में ताओ व्याप्त है जो अथाह है। उसे पूरा-का-पूरा कोई नहीं जान सकता। शरीर के भेद को अभी भी डॉक्टर थोड़ा ही जान पाये हैं।

ताओ को पूर्णतया जाना नहीं जा सकता, इस कथन से निराश होने की आवश्यकता नहीं है। हम कहीं किसी स्थान पर गये। वहां चार दिन रहना है। वहां हमें इतना जान लेना है कि हम कहां रहेंगे, कहां खायेंगे। कहां अपना काम करेंगे और कहां सुबह-शाम घूम सकेंगे। इतने में काम चल जायेगा। हमें इन जानकारियों की क्या आवश्यकता है कि यहां कितने लोग बसते हैं। किनकी कितनी आमदनी है, किनसे किनकी मैत्री और शत्रुता है इत्यादि। इसी प्रकार हमें अपने जीवन-निर्वाह के धंधे तथा जीवन-पवित्रता के साधन जानकर उनका उपयोग करना है। संत लाओत्ज़े अधिक ज्ञान को महत्त्व नहीं देते, अपितु जाने हुए के आचरण को महत्त्व देते हैं जो सार्वभौमिक मत है। जानवर अपने सरल जीवन को व्यतीत करने के लिए काम भर ताओ को जानते हैं।

वैसे हमें मोटामोटी ताओ को समझना चाहिए जिससे जड़ और चैतन्य सृष्टि की घटनाओं को कारण-कार्य व्यवस्था के आधार पर समझ सकें। अन्यथा दैवी

कल्पनाओं के अंधखड्ड में गिरेंगे और वंचकों के शोषण-तंत्र में पिसेंगे।

संत लाओत्ज़े आगे कहते हैं, **नाम, जिसको बताया जा सके, शाश्वत नाम नहीं है।** शरीर, वर्ण, आश्रम, जाति-पांति, कुल-गोत्र, पद, उपलब्धि, स्थान आदि के जितने नाम हैं, सब निरे काल्पनिक, क्षणिक और अंततः असत्य हैं। इन्हीं के राग में पड़कर मनुष्य विक्षिप्त है। यह ठीक है कि नाम के बिना काम नहीं चल सकता, किंतु हम नाम को पकड़कर बैठ जाते हैं और तथ्य ओझल हो जाता है। उदाहरणार्थ, मेरे माने गये शरीर का नाम 'अभिलाष' है। इसे मेरे गुरुदेव ने दिया है। यह काम-चलाऊ है। कोई नाम न दिया जाये तो लोग कैसे पुकारें? किंतु विचार करें कि जिस शरीर का नाम 'अभिलाष' है वही मेरा नहीं है, नित्य नहीं है, सत्य नहीं है, अपितु मिट्टी, पानी, आग तथा हवा के अणुओं का जोड़ है, जो क्षण-क्षण बदलता है और एक दिन ऐसा लुप्त हो जायेगा कि वह कभी दृश्य न होगा। इस प्रकार शरीर ही असत्य है। इसका नाम 'अभिलाष' लिखा जाये तो कागज पर स्याही की रेखा है और बोला जाये तो हवा का झोंका है जो सब अनात्म और अनित्य है। ऐसे असत्य नाम में यदि हम चिपक गये तो भवसागर में पुनः भटकना ही है। इसी प्रकार अपनी मानी गयी सारी उपलब्धियों के नाम को समझ लें। सब मृग-मरीचिका की तरह क्षणिक प्रतीत मात्र है। जाति, वर्ण, संप्रदाय, मजहब, पद, धनपति आदि नामों के व्यामोह में मनुष्य विक्षिप्त बना भटकता है।

सारी जड़-चैतन्य सृष्टि उसमें अनादि स्वतः निहित कारण-कार्य-व्यवस्था से चल रही है; जिसको वैदिक ऋषियों ने 'ऋत' कहा और संत लाओत्ज़े ने 'ताओ' कहा है, जो व्यक्ति नहीं, विश्वव्यापी नियम है, स्वतः स्वचालित यूनिवर्सल लॉ है। किंतु इसके नाम ईश्वर, अल्लाह, गॉड आदि रखकर इसे कृपा और कोप करनेवाला व्यक्ति बना दिया गया। फिर इसका नाम-जप और चढ़ावा चलने लगा। इसको प्रसन्न करने के लिए निर्दोष जानवरों की बलि और कुर्बानी के नाम पर हत्या होने लगी। अलग-अलग मजहब बनने लगे और सभी मजहबों का उस पर एकाधिकार स्थापित होने लगा। इसको लेकर दूसरों को नास्तिक, काफिर, नापाक आदि कहा जाने लगा। फिर उसके अवतार और पैगम्बर गढ़े जाने लगे। फिर कहा जाने लगा कि जो हमारे अवतार और पैगम्बर को नहीं मानता है वह बिना सींग-पूंछ का पशु है, वह नरक में जायेगा। इन मजहबों द्वारा किताबें बनाकर उसी के नाम पर चालू की गयीं और उनके द्वारा कहा गया कि हमारा शास्त्र ईश्वर-रचित है। जो इसे नहीं मानेगा, वह नरक में जायेगा। जो ताओ, ऋत, ईश्वर आदि नाम दिये गये, मनुष्य को चाहिए था कि उसके आधार पर विश्वव्यापी नियमों को समझकर और उनका जीवन में उपयोग कर अपना और दूसरे का कल्याण करता, किंतु यह न कर उसे व्यक्ति बना

लिया गया और ईश्वर के नाम पर पाखंड फैला लिया गया। चीन में संत लाओत्ज़े के एक वर्ग के अनुगामी ही ताओ के नाम पर झाड़-फूंक, तंत्र-मंत्र का जाल फैलाकर समाज का शोषण करते हैं, और संत लाओत्ज़े को भगवान बनाकर पूजते हैं, जो धोखा है।

नाम देना पड़ता है। लोग उसे कामचलाऊ न मानकर उसे ही पकड़ लेते हैं और सत्य का अलग-अलग नाम गढ़कर आपस में लड़ते हैं और सत्य से दूर पड़ जाते हैं। इसीलिए संत कबीर साहेब ने कहा ''अरे भाई! दो जगदीश्वर कहां से आ गये? अल्लाह, राम, करीम, केशव, हरि, हजरत नाम तुम्हारे गढ़े हुए हैं। एक सोना से कंगन, कंठा, कड़ा, करधनी, कुंडल, केयूर आदि अनेक आभूषण बनते हैं, परंतु सब अंततः सोना ही हैं। इसी प्रकार कहने-सुनने के लिए एक ने नमाज नाम रखा और दूसरे ने पूजा नाम रखा। महादेव, मुहम्मद, ब्रह्मा, आदम एक समान महामानव हैं। एक ही जमीन पर रहने वाले मनुष्यों में कौन हिंदू है और कौन तुरुक है? एक वेद पढ़ता है, दूसरा किताब पढ़ता है, एक पंडित कहलाता है और दूसरा मुल्ला। केवल अलग-अलग किस्म के नाम रख लिए हैं, अंततः सब हैं एक मिट्टी के बरतन। कबीर साहेब कहते हैं कि वे दोनों अज्ञान में हैं, और परम सत्य के बोध से वंचित हैं; क्योंकि वे अपने दयासागर, रहमवान ईश्वर को खुश करने के लिए बकरे, गाय आदि निर्दोष प्राणियों की हत्या करते हैं।''[1]

संत लाओत्ज़े आगे कहते हैं **अव्यक्त को मैं स्वर्ग और पृथ्वी का आंरभ कहता हूं।** अव्यक्त का अर्थ है अप्रकट, अदृश्य, मूल प्रकृति। मिट्टी, पानी, आग और हवा—ये चार मूल तत्त्व हैं। इनके सूक्ष्मतम परमाणुओं का समुच्चय मूल प्रकृति है जो अव्यक्त है, अदृश्य है। वही स्वर्ग और पृथ्वी का आरंभ है। वैदिकों ने 'भूः भुवः स्वः' कहकर क्रमशः पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्युलोक नाम दिया है। इसे ही तीन लोक कहते हैं। पृथ्वी के अन्य क्षेत्रों में भी इसी ढंग से

---

1. **भाई रे दुई जगदीश कहाँ ते आया, कहु कौने बौराया ॥ 1 ॥**
अल्लाह राम करीमा केशव, हरि-हजरत नाम धराया ॥ 2 ॥
गहना एक कनक ते गहना, यामें भाव न दूजा ॥ 3 ॥
कहन सुनन को दुइ कर थापे, एक निमाज एक पूजा ॥ 4 ॥
वोही महादेव वोही महम्मद, ब्रह्मा आदम कहिये ॥ 5 ॥
को हिन्दू को तुरुक कहावै, एक जिमी पर रहिये ॥ 6 ॥
वेद-कितेब पढ़ै वै कुतबा, वै मोलना वै पाँड़े ॥ 7 ॥
बेगर-बेगर नाम धराये, एक मिट्टी के भाँड़े ॥ 8 ॥
कहहिं कबीर वै दूनों भूले, रामहि किनहु न पाया ॥ 9 ॥
ये खसी वै गाय कटावै, बादिहि जन्म गमाया ॥ 10 ॥
(बीजक, शब्द 30)

तीन या दो लोक कहा गया है। संत लाओत्ज़े दो कहते हैं, स्वर्ग और पृथ्वी। स्वर्ग का अर्थ है आकाश या उसमें व्याप्त ग्रह-उपग्रह और पृथ्वी का अर्थ है हमारी पृथ्वी। इसका लाक्षणिक अर्थ है भौतिक जगत का समुच्चय। अतएव दृश्यमान सारे जगत का आरंभ अर्थात मूल अव्यक्त प्रकृति है।

आंरभ का अर्थ यह नहीं है कि अव्यक्त मूल प्रकृति से किसी अमुक समय में यह पार्थिव जगत पैदा हुआ है। मूल प्रकृति नित्य है। उसके गुण, धर्म और क्रिया उसमें स्वत: अनादि निहित हैं, अतएव उससे यह जगत भी अनादि से बनते-बिगड़ते हुए सदा है। अतएव संसार की नये सिरे से कभी उत्पत्ति और कभी सर्वथा प्रलय की कल्पना लालबुझक्कड़ी बकवास है। मूल प्रकृति नित्य है। उससे जगत प्रवाह रूप नित्य है। यहां ग्रंथकार का इतना ही कहना है कि स्थूल जगत का कारण सूक्ष्म प्रकृति है।

आगे ग्रंथकार कहते हैं, **व्यक्त को मैं संपूर्ण देधारियों की जननी कहता हूं।** व्यक्त, प्रकट, दृश्यमान यह स्थूल एवं पार्थिव जगत है। यही देहधारी प्राणियों की जननी है। इस स्थूल जगत ही में तो प्राणियों के पैदा होने का उपयुक्त वातावरण है।

इसके बाद ग्रंथकार कहते हैं, **अव्यक्त की ओर संकेत उधर ले जाता है जिधर उपस्थित है अद्‌भुत सार।** अर्थात जब हम अव्यक्त मूल प्रकृति का विचार करते हैं, तब समझ में आता है कि वह सत्य तत्त्व मूल प्रकृति कैसी अद्‌भुत है जिसमें से विचित्रता भरा अनंत संसार बनता-बिगड़ता हुआ प्रवहमान है।

आगे ग्रंथकार कहते हैं, **व्यक्त की ओर संकेत आकाशीय सीमा को दर्शाता है।** इसका तात्पर्य है, निर्मित पदार्थ देश की सीमा खींचता है। निर्मित पदार्थ सीमाबद्ध होते हैं। आगे ग्रंथकार कहते हैं, **दोनों मूलत: एक हैं, और अंतर केवल नाम का है।** जैसे मिट्टी और मिट्टी के घड़े, जल और जल के बुदबुदे अंतत: एक हैं, वैसे मूल प्रकृति और उससे निर्मित पार्थिव जगत एक है।

आगे ग्रंथकार कहते हैं, **उसकी एकता को ही रहस्य कहा जाता है।** रहस्य का अर्थ है गुप्तभेद, मर्म, दुर्बोध्य, समझने में कठिन। मूल प्रकृति अव्यक्त है और उसका कार्य पार्थिव जगत व्यक्त है। दोनों की एकता, दोनों के अंतस्सम्बन्ध, जिससे विचित्रता भरा संसार बनता-बिगड़ता है , इसको पूर्णतया समझ पाना कठिन है।

आगे ग्रंथकार कहते हैं, **रहस्य का और गहन होना ही प्रवेशद्वार है, उसका जिससे सारे आश्चर्य प्रकट होते हैं।** आश्चर्य है विचित्रता भरा संसार और वह मूल प्रकृति से पैदा होता है। अतएव मूल प्रकृति गहनतम रहस्य है। इसकी गुत्थी समझते-समझाते बड़े-बड़े दार्शनिक उलझे हुए हैं। दुनिया के समस्त ईश्वरवादी ग्रंथ जगत-सृष्टि के विषय में थोड़ी पक्की और अधिक कच्ची, यहां तक बिना सिर-पैर की बातें करते ही हैं, आधुनिक माने जाने वाले विद्वान

''थैलीज, अनाक्समंडर, अनाक्समेनिस, पिथोगोरस, जेनेफेंस, हिराक्लिटस, अनाक्सगोरस, डेमोक्रेटस, सोफिस्ट, उसेलस, साक्रेटिस, प्लेटो, अरिस्टाटल, एपिक्यूरस, डाल्टन, डार्विन, हेकल आदि दिग्गज पश्चिमी दार्शनिक पंडितों की भी सृष्टि कोमल, कमनीय तथा कठिन, कर्कस कल्पना-जल्पनाएं हैं।''

उक्त कथन से निराश होने की आवश्यकता नहीं है। मूल प्रकृति नित्य है। उसमें स्वत: निहित गुण, धर्म, क्रियादि नित्य हैं और इन सबसे जगत प्रवाह रूप नित्य है। इसे कृपा और कोप करनेवाला देवता नहीं चला रहा है। इसका निर्देश ग्रंथकार ने आगे पांचवें सूत्र में स्वत: किया है। सद्गुरु कबीर ने कहा है ''जब शुरू में पवन-पानी आदि तत्त्व नहीं थे, तब बिना कारण के सृष्टि किसने पैदा कर दी?''[1] अतएव जगत-सृष्टि अपने गुण-धर्मों से संबलित अनादि-अनंत है।

वेदों में जगह-जगह मार्मिक वचन हैं। ऋग्वेद के प्रथम मंडल का एक सौ चौसठ (164)वां सूक्त बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें बावन (52) मंत्र हैं और अनेक विषय हैं। इसके रचयिता ऋषि दीर्घतमा हैं। वे कहते हैं, ''जो यह अपार्थिव सूक्ष्म जड़-प्रकृति पार्थिव स्थूल विश्वप्रपंच को अपने में धारणकर निरंतर गतिशील है, उसको प्रथम उत्पन्न होते हुए किसने देखा है? यह तो समझ में आता है कि भूमि से, जड़-प्रकृति से प्राण अर्थात सूक्ष्म शरीर और रक्तादि युत स्थूल शरीर पैदा हो गये; परंतु आत्मा जो चेतन है, वह 'क्वसित्' क्या है? कहां से आ गया? इस बात को पूछने के लिए कौन व्यक्ति विद्वान के पास जाता है?''[2]

को ददर्श प्रथमं जायमानम्। अर्थात पहले उत्पन्न होते हुए किसने देखा? यह निष्छल प्रश्न है। किसके उत्पन्न होने की बात है? **यत् अनस्था** जो अस्थि-रहित है, हड्डी-रहित है, तात्पर्य में पार्थिवता-रहित है। वह है मूल जड़-प्रकृति। जड़ प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्म है। उसमें हड्डी नहीं है, कठोरता एवं पार्थिवता नहीं है। वह अत्यन्त कोमल है। परंतु उसने **अस्थनवन्तम् बिभर्ति**—हड्डी वाले को अपने में धारण कर रखा है। यह अनंत विश्व-ब्रह्माण्ड जो मिट्टी, पानी, आग, हवा, पेड़, पहाड़ वाला कठोर है, पार्थिव है, इसे उस अपार्थिव सूक्ष्म जड़-प्रकृति ने ही धारण कर रखा है और उसी के गुण-धर्मों तथा आकर्षण से यह सब व्यवस्थित गतिमान है। इस प्रकार जो सारे पार्थिव जगत को धारण करनेवाली अ-पार्थिव प्रकृति है, वह कहां प्रथम उत्पन्न हुई? इस घटना को किसने देखा?

---

1. **तहिया होते पवन नहिं पानी। तहिया सृष्टि कौन उत्पानी। (बीजक, रमैनी 7)।**
2. **को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थनवन्तं यदनस्था बिभर्ति।**
   भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित् को विद्वांसमुप गात् प्रष्टुमेतत्॥
   (ऋग्वेद, मंडल 1, सूक्त 164, मंत्र 4)

भूम्याः असुः असृक्—भूमि से, जड़-प्रकृति से **असु** और **असृक्** पैदा हुए, यह समझना सरल है। **असु** कहते हैं प्राण को, जिसका लाक्षणिक अर्थ है सूक्ष्म शरीर और **असृक्** कहते हैं रक्त को, जिसका लाक्षणिक अर्थ है स्थूल शरीर, इस तरह जड़-प्रकृति से सूक्ष्म और स्थूल शरीर पैदा हो गये, यह समझ में आता है। क्योंकि सूक्ष्म और स्थूल शरीर जड़ हैं, अत: वे जड़ प्रकृति से पैदा हो गये। परंतु **आत्मा क्व स्वित्**—चेतन आत्मा क्या है, कहां से आ गया? चेतन जड़ से नहीं पैदा हो सकता और जड़ चेतन से नहीं पैदा हो सकता।

परंतु **एतत् प्रष्टुम् कः विद्वांसम् उपगात**—यह सब पूछने के लिए उसके विद्वान के पास कौन जाता है? लोग तो देहनिर्वाह-धंधा, कामभोग, परिवार-पोषण, मान-बड़ाई तथा लौकिक बातों में ही उलझे रहते हैं। उपर्युक्त जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर समाधान पाने के लिए विवेकवान के पास विरला ही जाता है।

उपर्युक्त शंका का समाधान परम समर्थ महर्षि कपिल ने आज से हजारों वर्ष पूर्व कर दिया था। उन्होंने कहा था, "मूल में मूल का अभाव होने से अमूल होता है मूल।"[1] पेड़ की जड़ होती है, किंतु जड़ की जड़ नहीं होती। जड़ प्रकृति और उससे सर्वथा भिन्न चेतन-पुरुष मूल हैं। इनका मूल कोई नहीं है। न जड़ प्रकृति पैदा हुई है और न चेतन पुरुष पैदा हुए हैं। ये दोनों अनादि-अनंत हैं। इन दोनों के संबंध से सृष्टि-चक्र भी अनादि-अनंत है।

संत लाओत्ज़े की इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में, जिस पर विचार चल रहा है, अधिकतम पाठों में दो पंक्तियां आती हैं **यदि हम गहरे रहस्य को जानना चाहते हैं तो हमें सदैव इच्छा रहित रहना चाहिए। परंतु यदि हम में सदैव इच्छाएं हैं, तो हम इसके बाहरी रूप को ही देख सकेंगे।**[2] हमने 'रिचर्ड विल्हम' का पाठ लिया है, उसमें उक्त वचन नहीं है, किंतु यह सर्वाधिक पाठों में है और कथन बहुत महत्त्वपूर्ण है। सांसारिक इच्छाओं से भरा चित्त दिग्भ्रमित होता है। वह वस्तु के तथ्य तक नहीं पहुंच सकता। महाराज श्रीराम अयोध्या में रहते हुए राज्य पाने की इच्छा को छोड़ दिये थे, इसलिए वे समझ सके थे कि अयोध्या को छोड़कर चले जाने से ही यहां के कलह का अन्त होगा। किंतु वे ही महापुरुष जब दण्डकारण्य में सोने जैसे दिखते हुए मृग में मोहित हो गये और उसे पाने की इच्छा से भर गये, तो मृग की यथार्थता को नहीं समझ सके

---

1. **मूले मूलाभावादमूलं मूलम्॥ सांख्य दर्शन 1/67॥**
2. **Always without desire we must be found,**
   If its deep mystery we would sound;
   But if desire always within us be,
   Its outer fringe is all that we shall see.

और उसी के पीछे उनके ऊपर भारी विपत्ति आयी। महाभारतकार ने लिखा है, "सोने का मृग होना असंभव है, परंतु राम उसमें लुभा गये। सच है जब पतन का दिन निकट आता है, तब बुद्धि विपरीत हो जाती है।"[1]

मनुष्य की जो इच्छा है कि बिना परिश्रम और बिना संयम के हमें सब सुख मिल जाये, इसी से उसने ताओ की, ऋत की, विश्वव्यापी नियम की उपेक्षाकर, उससे आंखें मींचकर कृपालु व्यक्ति-ईश्वर की स्थापना की है जो स्वर्ण-मृग है। वह न कभी मिलने वाला है और न उससे कुछ मिलनेवाला है। ईश्वरवाद, दैववाद, अवतारवाद, पैगंबरवाद, अलौकिकता, चमत्कार और इनके पीछे घोर सांप्रदायिकता और प्राकृतिक घटना के पीछे ईश्वरी शक्ति की कल्पना मनुष्यों के स्वर्णिम मृग पाने की इच्छा के कारण हैं।

काम-भोग की इच्छा से भरा हुआ आदमी अपने माने गये शरीर और दूसरे के शरीरों की ऊपरी क्षणिक चमक-दमक को देख सकता है, उनके भीतर भरी गंदगी को, काम-भोग के दुष्परिणाम—तृष्णा, चंचलता, जीवन भर की विवशता एवं अपार दुख को नहीं देख सकता। राज्यमंत्री पद की इच्छा से भरा हुआ मनुष्य उसके क्षणिक बाह्य ऐश्वर्य और अधिकार को ही देख सकता है; उसे पूर्ण निभाने के लिए त्याग-तपस्या से भरे कर्तव्यों को नहीं देख पाता और कर्तव्यनिष्ठा से न चलने के परिणाम में जो उसका पतन होगा, उसे वह नहीं समझ पाता। "तप से राज्य और राज्य से नरक।" इस पुरानी कहावत को भी वह नहीं समझ पाता।

अतएव परम सत्यता है कि सत्य को तत्त्वत: देखने के लिए इच्छाओं से रहित निर्मल मन का होना चाहिए। श्री विशाल साहेब कहते हैं—

अंतस थिर ज्वाला रहित, अभय न चिंता जब्ब ।
फिक्र रहित मन निरस जहँ, शोध यथारथ तब्ब ॥

(मुक्तिद्वार, स्वतंत्र जीव शतक, 72)

अर्थात जब हृदय में स्थिरता हो, उद्वेग-शून्यता हो, निर्भयता हो, चिंता-फिक्र से रहित हो और मन सब तरफ से अनासक्त एवं निष्पक्ष हो, तब सत्य का शोधन होता है।

---

1. **असम्भवे हेममयास्य जन्तोस्तथापि रामो लुलुभे मृगाय।**
प्राय: समासन्नपराभवाणां धियो विपर्यस्ततरा भवन्ति॥

(महाभारत, सभापर्व, 76/5)

2. सापेक्ष विरोध

1. *If all on earth acknowledge the beautiful as beautiful then*
   thereby the ugly is already posited.
   If all on earth acknowledge the good as good
   then thereby is the non-good already posited.
   For existence and non-existence generate each other.

2. *Heavy and light complete each other.*
   Long and Short shape each other.
   High and deep convert each other.
   Before and after follow each other.

3. *Thus also is the Man of Calling.*
   He dwells in effectiveness without action.
   He practises teaching without talking;
   All beings emerge
   and he does not refuse himself to them.
   He generates and yet possesses nothing.
   He is effective and keeps nothing.

4. *When the work is done*
   he does not dwell with it.
   And just because he does not dwell
   he remains undeserted.

अनुवाद

1. *जब संसार के लोग सुंदर को सुंदर के रूप में देखते हैं,*
   तब ऐसा करने पर कुरूप स्वयमेव उपस्थित हो जाता है।

जब संसार के लोग अच्छे को अच्छे के रूप में देखते हैं,
तब ऐसा करने पर बुरा स्वयमेव उपस्थित हो जाता है।
क्योंकि व्यक्त और अव्यक्त एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं।

2. *भारी और हल्का एक दूसरे को अर्थपूर्ण बनाते हैं।*
लंबा और छोटा एक दूसरे को परिभाषित करते हैं।
ऊंचा और नीचा एक दूसरे में परिवर्तित होते हैं।
आगे और पीछे एक दूसरे का अनुगमन करते हैं।

3. *संतों की रहनी ऐसी होती है,*
वे बिना कुछ किये अपना कार्य निष्पन्न करते हैं।
वे बिना कुछ कहे, ज्ञान का आचरण करते हैं।
सभी प्राणधारी उत्पन्न होते हैं,
और वे अपने सहयोग से उन्हें वंचित नहीं रखते।
वे जीवन प्रदान करते हैं, किंतु अधिकाररहित होकर।
वे अपना माने बिना कार्य करते हैं।

4. *कार्य संपन्न होने पर*
वे कुछ चाहते नहीं।
और, चूंकि उनकी कोई अपेक्षा नहीं है,
अत: उनकी उपेक्षा नहीं हो सकती।

भावार्थ—1. जब हम सुंदर को सुंदर रूप में देखते हैं, तब कुरूप अपने आप उपस्थित हो जाता है। जब अच्छे को अच्छा रूप में देखते हैं, तब बुरा अपने आप विद्यमान हो जाता है। क्योंकि प्रकट और अप्रकट एक-दूसरे को उत्पन्न करते हैं।

2. भारी और हलका एक दूसरे को सार्थक करते हैं। लंबा और छोटा एक-दूसरे को स्पष्ट करते हैं। ऊंचा और नीचा एक-दूसरे को बदलते हैं। आगे और पीछे वाले एक दूसरे के साथ चलते हैं।

3. पहुंचे हुए संतों की रहनी इस प्रकार होती है : वे कुछ नहीं करते और उनका सारा काम पूरा होता है। वे दूसरों को बिना कुछ बताये अपने ज्ञान का आचरण करते हैं। वे उत्पन्न हुए प्राणधारियों को अपने सहयोग से वंचित नहीं करते। वे लोगों के जीवन को उच्च बनाते हैं, परंतु उन पर अपना अधिकार नहीं जमाते। वे अपना माने बिना—अहंता-ममता-रहित होकर सबके कल्याण का काम करते हैं।

4. कार्य पूरा हो जाने पर वे कुछ चाहते नहीं। उनको किसी से कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, इसलिए उनका निरादर होना असंभव है।

भाष्य—संत लाओत्ज़े की इस प्रसंग में पहली बात है, **जब हम सुंदर को सुंदर रूप में देखते हैं, तब उसके विरोध में कुरूप खड़ा हो जाता है।** संत जी यह नहीं कहते हैं कि सुंदर नहीं होता है। वे कहते हैं कि जब सुंदर को सुंदर के रूप में देखा जाता है तब यह दोष आता है कि दूसरे की कुरूपता उभरती है। सुंदरता और कुरूपता की केवल दो श्रेणियां नहीं हैं। सुंदर अधिक सुंदर के सामने कुरूप हो जाता है और कुरूप अधिक कुरूप के सामने सुंदर हो जाता है। अतएव सुंदरता की सीमा नहीं है और कुरूपता की भी सीमा नहीं है। इसलिए न सुंदरता निरपेक्ष है और न कुरूपता निरपेक्ष है। दोनों स्वतंत्र नहीं हैं। ये एक दूसरे को सुंदर और कुरूप तब बनाते हैं जब हम भावुक होकर एक को महत्त्व देते हैं। सुंदर और कुरूप की तुलना ही विकार पैदा करती है।

मनुष्यों के शरीर, पद, अधिकार, धन, विद्या, बुद्धि आदि; मकान, गाड़ी या और कुछ; सब काम की चीजें हैं। इनमें कुछ प्रकृति से उत्पन्न हैं और कुछ को मनुष्यों ने बनाया है। इन सब में विषमता है, अंतर है। यह विषमता ही संपन्नता पैदा करती है। हमारे हाथों की अंगुलियां विषम हैं, परंतु ये सब मिलकर कार्य संपादित करती हैं।

ग्रंथकार कहते हैं कि तुम सुंदर की प्रशंसा में मत पड़ो, अन्यथा तुम्हारी दृष्टि में दूसरा कुरूप लगेगा। फिर यह भी बात है कि जो आज सुंदर है, वह कब तक सुंदर रहेगा? हर सुंदर को अगले क्षण कुरूप होना है। महल से लेकर झोपड़ी तक प्राणियों के निवास स्थान हैं। महल में रहनेवाला बड़ा क्यों और झोपड़ी में रहनेवाला छोटा क्यों? कोई तीव्र बुद्धि का है और कोई मंदबुद्धि का है, कोई सर्वांग है और कोई विकलांग है; परंतु सबकी पैदाइश में ताओ मूल है, विश्व-नियम कारण है। इसमें किसी का दोष क्या है? इनमें एक को अधिक आदर देकर दूसरे को हम अपनी अचेती में गिराते हैं।

सुंदर को सुंदर रूप में देखने से पहली बात तो देखने वाले के मन में मोह, काम, लोभ आदि पैदा होकर उसकी आध्यात्मिक हानि करेंगे और बाहर परिवार तथा समाज में विषम व्यवहार उत्पन्न होगा जो सबके लिए दुखद बनेगा। ताओ शांत है, विश्व-नियम शांत है, अतएव हमें भी प्रशंसा की भावुकता में न पड़कर समता और शांति से रहना चाहिए।

जब हम सुंदरता नहीं देखेंगे तब कुरूपता दिखेगी ही नहीं। जब हम सारा दृश्यमान पानी के बुलबुले की तरह देखेंगे, तब न हमारे मन का पतन होगा और न हमारे द्वारा समाज में द्वंद्व होगा।

संत लाओत्ज़े का दूसरा वचन है, **जब हम अच्छे को अच्छे रूप में देखते हैं तब बुरा स्वयमेव उपस्थित हो जाता है।** यहां भी ग्रंथकार यह नहीं कहते हैं कि कोई अच्छा या बुरा नहीं होता है। अच्छे और बुरे संसार में हैं। अच्छे और

बुरे की भी केवल दो श्रेणियां नहीं हैं। अच्छे से अच्छे होते हैं और बुरे से बुरे होते हैं। अतएव अच्छे और बुरे भी निरपेक्ष नहीं, अपितु सापेक्ष हैं। हम अच्छे की अधिक प्रशंसा करके अपनी अचेती में दूसरे को बुरा बना देते हैं।

जो मनुष्य अपने ऊपर जितना अधिक संयम रखता है, उतना अधिक दूसरों के साथ मीठी बात और व्यवहार करता है। यही अच्छा होना है और जो मनुष्य अपने ऊपर जितना अधिक असंयम रखता है वह उतना अधिक दूसरे से कटु बात और व्यवहार करता है। यही बुरा होना है। और ये हर मनुष्य में व्याप्त हैं। संयम-असंयम, मीठे और कटु बात-व्यवहार की प्रक्रिया हर मनुष्य में कम-अधिक है। ऐसी स्थिति में कौन सर्वथा अच्छा है और कौन सर्वथा बुरा है? हां, अधिक असंयम और अधिक कटु बात-व्यवहार वाला बुरा माना जाता है और अधिक संयम और मीठे बात-व्यवहार वाला अच्छा माना जाता है।

अच्छाई की प्रशंसा करने से लोगों को अच्छा बनने में उत्साह होता है और बुराई की निंदा करने से लोग बुराई से हटने का प्रयत्न करते हैं। यह नीति के वचन हैं। संत लाओत्ज़े के समय में चीन देश में महान समाज-सुधारक और नैतिकता पर बल देने वाले कनफ्यूशियस थे। उनका यही विचार था। इस विचार का अपनी जगह पर महत्त्व है।

संत लाओत्ज़े का विचार बहुत ऊंचाई पर है। वे कहते हैं कि कोई मनुष्य संयम और शील से रहता है, तो यह उसका मानवीय स्वभाव ही है। इसमें उसकी अच्छाई तथा प्रशंसा क्या है? यदि मनुष्य असंयत और निश्शील रहेगा तो वह अपनी मानवता से ही रहित होकर दुखी रहेगा। उसे तो अपनी सुख-शांति के लिए ही संयम और शील से रहना है। अपने पर संयम और दूसरे से शील का बरताव मानव का सहज स्वभाव है। इसके गुण-गान की आवश्यकता क्या है? कोई मनुष्य प्रखर वैराग्यवान है, तो उसकी बड़ाई क्या है? राग से मनुष्य दुखी और भयभीत रहता है। जब सच्ची समझ हो जाती है, तब मनुष्य राग छोड़ने का प्रयत्न करता है और साधना करते-करते संपूर्ण राग छोड़ देता है और आगे सावधान रहता है कि पुन: कहीं राग न बने। राग छोड़ना उसका ही स्वार्थ है। राग छोड़कर वह दुख और भय से मुक्त हो जाता है। कोई अपने अंग में लगे हुए कीचड़ को धो दे, तो इसमें उसकी बड़ाई क्या है? यह तो उसका सहज स्वभाव है स्वच्छ रहना। आज से पचास वर्ष पूर्व भारत के एक सज्जन सोवियत रूस गये। वे एक दिन एक दुकान पर दूध खरीदने लगे। उन्होंने दुकानदार से पूछा, दूध शुद्ध है न? दुकानदार ने कहा, यह तो केवल दूध है। दूध में शुद्ध विशेषण लगाने की आवश्यकता ही नहीं है। कृपया अब आप यहां किसी दुकान पर ऐसा न पूछियेगा; अन्यथा लोग यह भी सोचने लगेंगे कि दूध अशुद्ध भी होता है!

मनुष्य अपनी मनुष्यता में रहे। मनुष्यता है विवेक, जिसमें अपने में संयम और दूसरों के लिए शील का बरताव फलते हैं। यह ठीक है कि यह अच्छाई है; परंतु इस अपनी अच्छाई की प्रशंसा न चाहो। और दूसरे की अच्छाई की व्यर्थ प्रशंसा मत करो, अन्यथा पास वाला दूसरा अपने आप बुरा सिद्ध होगा। प्रशंसा निंदा का रूप लेती है।

ग्रंथकार कहते हैं, **क्योंकि व्यक्त और अव्यक्त एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं।** व्यक्त प्रकट को कहते हैं, अव्यक्त अप्रकट को। मन में राग प्रकट हुआ तो उसके पीछे छिपा द्वेष सामने आ जायेगा। प्रशंसा की गयी तो निंदा सामने आ जायेगी। इसलिए निंदा-प्रशंसा से बचकर चुपचाप काम करना चाहिए।

आगे संत लाओत्ज़े कहते हैं, **भारी और हलका एक-दूसरे को अर्थपूर्ण बनाते हैं। लंबा और छोटा एक दूसरे को परिभाषित करते हैं। ऊंचा और नीचा एक दूसरे में परिवर्तित होते हैं। आगे और पीछे एक दूसरे का अनुगमन करते हैं।** एक भारी मशीन को छोटे नट-बोल्ट अर्थपूर्ण बनाते हैं। मशीन की खास जगह के नट-बोल्ट ढीले हो जायें या निकल जायें, तो मशीन खड़ी हो जायेगी। वह काम नहीं कर सकती। भारी मशीन हलके नट-बोल्ट को सार्थक बनाती है, जब वह काम करती है। मशीन और नट-बोल्ट में बहुत अंतर है वजन में और मूल्य में भी, किंतु दोनों दोनों को अर्थपूर्ण बनाते हैं, सार्थक करते हैं।

परिवार एवं समाज में कोई साहित्यिक है, कोई मशीन आदि के चालन-संरक्षण में प्रवीण है, कोई दफ्तर के काम में निपुण है, कोई रसोई में, तो कोई बागवानी में, कोई सफाई में इत्यादि। इनमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है। सब मिलकर व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र का विकास होता है। जब हम पूजा करने वाले को बड़ा और अच्छा मान लेते हैं और नाली तथा शौचालय साफ करने वाले को छोटा तथा घटिया, तब यह ताओ के विरुद्ध होता है, वास्तविकता के विपरीत होता है। कबीर साहेब कहते हैं, ''और के छिये लेत हो छींचा। तुमसे कहहु कौन है नीचा।'' अर्थात अन्य के छू लेने पर तुम पानी छिड़ककर अपने को पवित्र करते हो, तो यह बताओ कि तुमसे नीच कौन है?

आप वेदों को पढ़िये। वैदिक ऋषि अपने हाथों से हल चलाते हैं, पशु चराते हैं, कपड़े बुनते हैं, भाड़ भूजते हैं, दवाई कूटते हैं, हवन-तर्पण भी करते हैं, उपासना और साधना भी करते हैं; और उनमें कोई छोटा-बड़ा नहीं माना जाता है। पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य आदि की मर्यादा की बात अलग है। परंतु क्या पुत्र तुच्छ है, शिष्य तुच्छ है? यदि ये तुच्छ हैं तो महान कौन होगा?

पिता आगे है, कुछ दिनों में पीछे चलने वाला पुत्र आगे हो जाता है और पिता पीछे होकर बैठ जाता है। इसमें पिता की छोटाई नहीं है और पुत्र को अहंकार

करने की गुंजाइश नहीं है। पुत्र भी कुछ दिनों में अपने पुत्र के पीछे हो जायेगा। अतएव ताओ के, विश्वव्यापी नियम के शासन में किसी को उछलने की गुंजाइश नहीं है। जो उछले-कूदेगा वह ठोकर खायेगा। मौन होकर कर्तव्य करना है।

संत लाओत्ज़े आगे कहते हैं, **संत की रहनी ऐसी होती है, वे बिना कुछ किये अपना कार्य संपन्न करते हैं। वे बिना कुछ कहे ज्ञान का आचरण करते हैं।** संत पूर्ण निष्काम होते हैं। निष्काम व्यक्ति को कुछ करना शेष नहीं रहता। कुछ जानने और पाने के लिए ही किया जाता है। जिसने अपनी पूर्णता जान ली, वह संसार से निष्काम हो जाता है; और निष्काम व्यक्ति का संसार में कोई प्रयोजन ही नहीं रहता। जब प्रयोजन ही नहीं, तो उसको कुछ करना भी नहीं है। इसलिए वह बिना कुछ किये अपना कार्य संपन्न करता है। उसका क्या कार्य है? अपने मन की परम शांति को बनाये रखना। शांति को बनाये रखने के लिए कर्म की आवश्यकता नहीं, किंतु निष्कर्म की आवश्यकता है।

ध्यान रहे, यह उच्च स्थिति बहुत कुछ करने के बाद मिलती है। शुभ कर्मों से चित्त शुद्ध होता है। सेवा-भक्ति से निर्मलता दृढ़ होती है। गुरु-उपासना, संत-सेवा, स्वाध्याय, साधना के निरंतर अभ्यास से निष्काम दशा आती है। संत पूर्ण निष्काम दशा में स्थित होकर सेवा का काम करते हैं। हमारे आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक लाभ में अनेकों का सहयोग है, इसलिए हमें भी कुछ ऐसा करना चाहिए जिससे दूसरों का हित हो, ऐसा समझकर पूर्णकाम संत भी कुछ करते हैं। शरीर से श्रम तो सबको करना चाहिए। **'संत बिना कुछ किये अपना कार्य संपन्न करते हैं।'** इसका अर्थ है कि आत्मतृप्त एवं निष्काम होने से उनका कार्य सब समय संपन्न ही है।

वे बिना कुछ कहे ज्ञान का आचरण करते हैं। वे जो जानते हैं, उसको अपने जीवन में उतारते हैं, उसके अनुसार व्यवहार करते हैं। इसका वे ढिंढोरा पीटने नहीं जाते कि मैं ज्ञान की रहनी में स्थित हूं। कबीर साहेब कहते हैं ''मन मस्त हुआ तब क्यों बोले?'' यहां बोलने की मनाही नहीं है, अपितु दूसरों के सामने प्रदर्शन किये बिना अपनी दिव्य रहनी में रहना है। दिखावा बालपन है। पूर्ण संत दिखावा-रहित रहते हैं।

वे अपने सहयोग से किसी को वंचित नहीं रखते। संत लाओत्ज़े की उक्त वाणी में प्राणि मात्र के लिए अपार करुणा की झलक मिलती है। संत उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ सबके कल्याण के लिए उन्हें निभाते हैं।

एक आश्रम में संत के पास बहुत साधक रहते थे। एक नया साधक आया। वह युवक था। उसने एक दिन किसी साधक की झोली से कुछ चुरा लिया। सभी साधक मिलकर संत के पास उसे ले गये। संत ने उसे स्नेह से समझाया, ''तुम चोरी करोगे तो कौन साधक बनोगे? आज से चोरी नहीं करना।'' कुछ

दिनों के बाद उसको पुनः चोरी करते पकड़ लिया गया। आश्रम के अधिक साधक उत्तेजित हो गये और कहने लगे कि गुरुजी यदि अबकी बार इसे आश्रम से नहीं निकालते हैं तो हम लोग आश्रम छोड़कर चल देंगे। संत ने उन सबको बुलाकर कहा, **तुम लोग साधना में प्रवीण हो, अतः मेरे साथ से अलग जाकर भी साधना में रह सकते हो। इसलिए तुम लोग आश्रम छोड़कर चले जाओ तो कोई हर्ज नहीं है। किंतु यह आगंतुक युवक तो बहुत कच्चा है; इसको मेरी अधिक आवश्यकता है। इसे मेरे साथ रहकर सुधरना है।**

संत की उक्त बातें सुनकर आश्रम के सब साधक शांत हो गये, और आगंतुक युवक भाव-विह्वल होकर गुरु के चरणों में गिर पड़ा और सदा के लिए सुधरकर अच्छा साधक हो गया।

वे जीवन प्रदान करते हैं, किंतु अधिकार-रहित होकर। माता-पिता से तो केवल भौतिक जीवन मिलता है, संत से आध्यात्मिक जीवन मिलता है। जीवन की सार्थकता सच्चे संत की शरण में ही होती है। निर्भय और शाश्वत सुख जीवन का परम लाभ है। यह केवल संत की शरण में पहुंचकर और सेवा-भक्ति, बोध तथा साधना में लगकर ही प्राप्त होता है। अतएव संत मुमुक्षु को जीवन प्रदान करते हैं। कहना चाहिए, सच्चा जीवन देते हैं जो आत्मिक साम्राज्य है। परंतु वे उन पर अपना अधिकार नहीं जमाते। **वे अपना माने बिना कार्य करते हैं।** संत किसी को अपना नहीं मानते। वे सोचते हैं कि जब अपना माना गया शरीर अपना नहीं है, तब दूसरा व्यक्ति अपना कहां है? वस्तुतः कोई अपना नहीं है, इस सच्चाई को दृष्टि में रखते हुए संत सबके कल्याण का कार्य करते हैं।

कार्य संपन्न होने पर वे कुछ नहीं चाहते। संत जो कुछ सेवा का काम करते हैं, पहली बात तो यह, कि वे अपने को मालिक न मानकर सेवक मानते हैं। जब वे कोई काम पूरा कर लेते हैं तब उसके बदले में कुछ नहीं चाहते। यहां तक वे यह भी नहीं चाहते कि लोग जानें कि इन्होंने यह काम किया है।

चूंकि उनकी कोई अपेक्षा नहीं, अतः उनकी उपेक्षा नहीं हो सकती। अपेक्षा = आवश्यकता, उपेक्षा = तिरस्कार। जिसके मन में अपेक्षा रहती है, उसे चारों तरफ से अपनी उपेक्षा का भ्रम होता है। अपेक्षा रखने वाले का मन कभी भरता नहीं है। एक अपेक्षा पूरी होने पर अनेक अपेक्षाएं खड़ी हो जाती हैं और उनका पूरा होना असंभव है, चाहे वह राजा-महाराजा हो। किंतु जिसके मन में कोई अपेक्षा ही नहीं है, उसके मन में अपनी उपेक्षा का बोध ही नहीं होता है। उसे लगता ही नहीं कि मेरा कोई तिरस्कार कर रहा है। जो अहंकार और कामना से मुक्त है, उसको कहीं कोई आंच नहीं।

3. कलह से बचने का उपाय

1 *By not preferring the competent*
one brings about that people do not quarrel.
By not treasuring precious things
one brings about that people do not steal.
By not displaying desirable things
one brings about that people's hearts are not confused.

2. *Therefore the Man of Calling governs thus:*
He empties their hearts and fills their bellies.
He weakens their will and strengthens their bones
and brings about that the people remain without knowledge
and without wishes,
and he takes care
that those who know dare not act.
He does the non-doing,
and thus everything falls into place.

अनुवाद

1. *योग्य को वरीयता न देकर,*
लोगों को आपसी कलह से बचाया जा सकता है।
मूल्यवान चीजों का संग्रह न करके,
लोगों को चोरी करने से रोका जा सकता है।
वांछित वस्तुओं का प्रदर्शन न करके,
लोगों के दिलों में उनके प्रति चाह उत्पन्न होने से रोका जा सकता है।

2. *अतएव,*
संतों का शासन इस प्रकार होता है—
वे उनके हृदय को खाली करते हैं और उनका उदर पोषण करते हैं।
वे उनकी इच्छाओं को कमजोर करते हैं, उनकी हड्डियों को दृढ़तर करते हैं।
वे प्रयास करते हैं कि लोग बिना ज्ञान और बिना इच्छाओं के हों।
और वे ध्यान रखते हैं कि जो जानकार हों,

वे उसका उपयोग करने की धृष्टता न करें।
वे कुछ करते नहीं,
इससे सब कुछ व्यवस्थित हो जाता है।

भावार्थ—1. योग्य को अधिक वरीयता एवं अधिक महत्त्व न देकर परिवार, समाज तथा किसी भी संगठन को पारस्परिक कलह से बचाया जा सकता है। कीमती चीजें न इकट्ठी कर लोगों को चोरी करने से रोका जा सकता है। मोहक वस्तुओं का प्रदर्शन न करके लोगों को उनके पाने की चाहना से रोका जा सकता है।

2. इसलिए, संतों का शासन इस प्रकार होता है : वे लोगों के मन को खाली करते हैं और उनके उदर का पोषण करते हैं। वे उनकी इच्छाओं को क्षीण करते हैं और उनकी सहनशक्ति को बलवान बनाते हैं। वे यह प्रयत्न करते हैं कि लोग अधिक जानकारी पाने के पीछे न दौड़ें, अपितु वे इच्छा-रहित हों। वे यह सावधानी रखते हैं कि जो बहुत जानते हैं वे उनके शब्दजाल के पीछे भावुक होकर न दौड़ें। संत कुछ करते नहीं, इसलिए उनका सब कुछ ठीक रहता है।

भाष्य—योग्य को वरीयता न देकर लोगों को आपसी कलह से बचाया जा सकता है। संत लाओत्ज़े भावुक बिलकुल नहीं हैं, अपितु गंभीर तथा अंतर्मुख महापुरुष हैं। परिवार, समाज या किसी भी समूह में जब हम किसी एक को अधिक श्रेय देते हैं, क्योंकि वह अधिक योग्य है, तो लोगों में कलह पैदा होता है। अन्य लोग समझते हैं कि हमारा अनादर हो रहा है। योग्यता निरपेक्ष नहीं होती। सबकी योग्यता की सीमा होती है। एक ही विषय में लोग एक से एक बढ़कर योग्य होते हैं। भिन्न विषयों में सबकी अपनी योग्यता होती है। परिवार और समाज में कोई व्यक्ति अयोग्य नहीं होता। हर व्यक्ति में अपनी योग्यता होती है। उनकी योग्यताओं का उपयोग सेवाकार्य में है। योग्यता का गुणगान करने तथा उसे बहुत श्रेष्ठता देने से आपस में कलह बढ़ता है।

किसी भी समूह का मुखिया जो वस्तुत: उसका सेवक है, समूह के सभी लोगों पर समता दृष्टि रखे और जिसमें जैसी योग्यता हो उसको वैसा सेवाकार्य दे। नीति वचन है, ''कोई अक्षर ऐसा नहीं है कि किसी कविता में न संयुक्त हो, कोई भी वनस्पति ऐसी नहीं है जिसका औषध में प्रयोग न हो, और कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं है कि वह किसी सेवाकार्य के योग्य न हो। हां, इसका संयोजन करनेवाला दुर्लभ है।''[1]

---

1. **अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम्।**
अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्रदुर्लभः॥

महत्त्वाकांक्षा मनुष्य के चित्त को जलाती है। महत्त्वाकांक्षा सारे अनर्थों की जड़ है। स्वयं महत्त्वाकांक्षी न हो और साथियों में ऐसा प्रयोग करे कि वे महत्त्वाकांक्षी न बनें। योग्यता का उपयोग उसके द्वारा सेवा देना है, वरीयता और प्रशंसा पाना नहीं। अतएव यदि परिवार, समाज या किसी भी समूह को कलह से बचाना है जो कि परम आवश्यक है, तो साथियों की योग्यता का सेवाकार्य में उपयोग होने दें। उसका व्यर्थ गुणगान न करें, उन्हें महिमा-मंडित करने का बालकपन न करें।

मूल्यवान चीजों का संग्रह न करके लोगों को चोरी करने से रोका जा सकता है। सोना, चांदी और रत्न जमीन में गाड़कर रखने का मतलब क्या है? चोरों को निमंत्रित करना। संसार का धन संसार में खुले रूप में रहना चाहिए, जिससे उसका लोगों के हित में उपयोग हो। परिवार और समाज के लिए संग्रह ठीक है, परंतु यह संग्रह खर्च के लिए हो। धन जमीन में गाड़कर रखने की अपेक्षा आज-कल बैंक में रखना अच्छा है। इससे जनता का काम होता है और जमा करने वाले का भी उससे निर्वाह चलता है।

वांछित वस्तुओं का प्रदर्शन न करके लोगों के दिलों में उनके प्रति चाह उत्पन्न होने से रोका जा सकता है। वांछित वस्तुओं का अर्थ है चाही हुई वस्तुएं। इसका सरल अर्थ है मोहक वस्तुएं। संत लाओत्ज़े का काल आज से ढाई हजार वर्ष पुराना है। उस समय की आज की चमक-दमक से कोई तुलना ही नहीं हो सकती। परंतु संत की सीख शाश्वत है। हर समय में उस समय के अनुकूल चमक-दमक की वस्तुएं होती हैं। शांति-इच्छुक को चमक-दमक वाली वस्तुओं का अधिक संग्रह ही नहीं करना चाहिए। वैसे हर वस्तु में चमक-दमक होती है। सादी वस्तुएं भी आकर्षक होती हैं। संत कहते हैं, उनका प्रदर्शन न करो, उन्हें दिखाने की चेष्टा मत करो।

कितनी ही वस्तुएं होती हैं जिन्हें न हमने देखी हैं और न सुनी हैं; अतएव उनके लिए हमारे मन में कोई चाहना ही नहीं उठती है। इसलिए उनको लेकर हमारे मन में कोई अभाव और असंतोष का अनुभव नहीं होता। उनसे हम सर्वथा मुक्त ही हैं। नयी-नयी वस्तुएं देखकर, सुनकर और भोगकर हमारे मन में उनकी चाहनाएं बनती हैं, जो हमारे मन के रोग के कारण हैं। हमें सादे ढंग से थोड़ी वस्तुओं में अपना जीवन-निर्वाह लेना चाहिए। जिनका हमें उपयोग करना पड़े उनका हम प्रदर्शन करने की चेष्टा न करें। कुछ लोगों के पास वस्तुएं अपने आप इकट्ठी हो जाती हैं। उनका कर्तव्य है कि उन्हें लोगों के उपभोग में लगाएं। खास बात है चाहना से रहित होना और दूसरे की निर्चाह स्थिति में कारण बनना।

इसलिए संतों का शासन इस प्रकार होता है : वे उनके हृदय को खाली करते हैं और उनका उदर-पोषण करते हैं। शरीर चलाने के लिए थोड़ा भोजन

लेना और मन को इच्छाओं से शून्य रखना, यह संत का आचरण है। उनके पास जो भी ज्ञान की बातें सुनने जाता है, वे उसे यही बताते हैं कि शांति से जीने का यह नियम है कि केवल पेट भरा जाये, मन भरने की चेष्टा न करे। इच्छा-रहित होना ही हृदय को खाली करना है। मनुष्यों ने ताओ को, विश्व के शाश्वत नियमों को छोड़कर नाना दैवी तथा अलौकिक कल्पनाएं, पैगंबरवाद, अवतारवाद आदि की भ्रांतियां हृदय में भर रखी हैं और संसार की इच्छाएं भर रखी हैं। संत उनसे हृदय को खाली कर देते हैं।

मनुष्य ने अपने मन को नाना कल्पित मान्यताओं, विषय-वासनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं से भर रखा है। ये उसे दुख देती हैं। मनुष्य का आत्म-अस्तित्व स्वभाव से परिशुद्ध है; परंतु उसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है। अत: वह दुनिया की झूठी चमक-दमक में उलझ जाता है और उसके संबंध में नाना इच्छाएं और मान्यताएं बना लेता है। संत कहते हैं कि शरीर-निर्वाह के लिए भोजन लो, किंतु मन को खाली करो। यदि भोजन मिलता रहे और मन इच्छाओं से शून्य हो तो इसके समान कोई उपलब्धि नहीं होगी।

सारा संसार कामना की आग में जल रहा है। श्री विशाल साहेब जो ईसा की बीसवीं शताब्दी के लखनऊ क्षेत्र के भारतीय लाओत्ज़े हैं, वे कहते हैं "चाह नहीं जेहि पास में, होवै कौन अकाज।" जिसके मन में कोई चाहना नहीं है उसकी क्या हानि होती है? चाहना-रहित हो जाना ही गुरुत्व, संतत्व, मनुष्यत्व, ब्रह्मत्व, परमात्मत्व, ईश्वरत्व एवं शिवत्व है। सूफी संतों की आवाज है, "सिर से पैर तक लिपटी हुई इच्छाओं ने हमें गुलाम बना रखा है, अन्यथा हम यदि हृदय से इच्छा-रहित होते, तो ईश्वर थे।"[1] कबीर साहेब कहते हैं, "चाह गई चिंता मिटी, मनुवा बे परवाह। जिनको कुछ नहिं चाहिए, सो शाहन्पति शाह॥"

वे उनकी इच्छाओं को कमजोर करते हैं और उनकी हड्डियों को मजबूत करते हैं। संत ज्ञानार्थियों को उपदेश करते हैं कि मन से इच्छाओं को दूर करो। कुछ इच्छाएं जो शरीर-निर्वाह के लिए तथा आध्यात्मिक साधनाओं के लिए उपयुक्त हैं, वे ठीक हैं, शेष सारी इच्छाओं को त्यागो और यदि नयी इच्छाएं मन में उठें तो उन्हें त्यागते रहो।

जैसे फूल को तोड़ते रहने से फल नहीं लगते, वैसे अपने मन की सांसारिक इच्छाओं को छोड़ते रहने से बंधन नहीं बनते। साधक वह है जो सदैव अपने मन को देखता और उसमें उठने वाली बंधनदायी इच्छाओं को त्यागता रहता है। संत साधक की हड्डियों को मजबूत करते हैं, इसका शाब्दिक अर्थ नहीं,

---

1. **सरापा आरज़ू होने ने बंदा कर दिया मुझको।**
   वगर्ना हम ख़ुदा थे गर दिले बे मुद्दवा होते॥

लाक्षणिक है। वे साधक के त्याग के साहस को दृढ़ करते हैं, उसकी आध्यात्मिक संकल्पशक्ति को पक्की करते हैं।

वे प्रयास करते हैं कि लोग बिना ज्ञान और बिना इच्छाओं के हों। साधक इच्छाओं को त्यागकर रहे, यह बात तो समझ में आती है, परंतु संत यह भी प्रयास करते हैं कि वह बिना ज्ञान के रहे, यह बात सामान्य आदमी को अटपटी लगेगी। किंतु लाओत्ज़े बहुत भिन्न ढंग के संत हैं। वे शुद्ध अंतर्मुखी हैं। यह बाहरी ज्ञान एवं नाना जानकारियां ही मनुष्यों को पीड़ित करती हैं। गाढ़ी नींद और समाधि में हमें अचल सुख का अनुभव क्यों होता है; क्योंकि वहां हम कुछ नहीं जानते। आत्मा का शुद्ध स्वरूप जगत-प्रपंच से सर्वथा पृथक, असंग एवं अकेला है। वह अपनी पूर्णस्थिति में तभी ठहर सकता है जब केवल सांसारिक इच्छाओं से ही नहीं, ज्ञान से भी ऊपर उठ जाये। जानने-समझने की दशा आरंभिक होती है। अंतिम दशा सारे ज्ञान से ऊपर उठ जाना है। "पहले ठीक से समझबूझ ले, फिर जड़ हो जाय, अज्ञानी एवं अनाड़ी बन जाय और सारा बल छोड़कर निर्बल हो जाय, निर्मान हो जाय। कबीर साहेब कहते हैं, उसका कोई पल्ला नहीं पकड़ सकता, उसे कोई बंधनों में नहीं डाल सकता।"[1] महर्षि सनत कुमार कहते हैं, "जहां दूसरे को नहीं देखता, दूसरे को नहीं सुनता तथा दूसरे को नहीं जानता, वहां भूमा की, आत्मा की स्थिति है।"[2] सूफी संत रूमी साहब कहते हैं, "आंखें बंद कर ले, कानों को बंद कर ले और ओठों को बंद कर ले। इतने पर भी सत्य के दर्शन न हों तो मेरा मजाक उड़ाना।"[3] "प्रपंचोपशमं शान्तं शिवं अद्वैतम्"[4] की स्थिति तब होती है जब प्रपंच से ऊपर उठकर निश्चल एकांत शान्त दशा आती है। शिवत्व एवं अद्वैत की, अकेलेपन की स्थिति पूर्ण दुखमुक्त दशा है। यह ज्ञान-शून्य, कुछ न जानने की स्थिति है, निर्विकल्प स्थिति है।

और वे ध्यान रखते हैं कि जो जानकार हों, वे उसका उपयोग करने की धृष्टता न करें। संत अपने पास रहने वाले साधकों पर दृष्टि रखते हैं कि जो वे जानते हैं, भावुकतापूर्वक उसको बांटने में न लग जायें, अपितु स्वयं में अंतर्मुखता का अभ्यास करें। उथले साधकों में गुरु और उपदेष्टा बनने की बड़ी

---

1. समुझि बूझि जड़ हो रहै, बल तजि निर्बल होय।
   कहहिं कबीर ता सन्त का, पला न पकरै कोय॥ बीजक, साखी 167॥
2. यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा॥ छांदोग्य उपनिषद्, 7/24॥
3. चश्मबन्दौ गोश बन्दौ लब बिबन्द।
   गर न बिनी सर्रेहक्क बरमन बखन्द॥
4. मांडूक्य उपनिषद, 7।

व्याकुलता होती है। इसलिए वे अपने कल्याण-मार्ग से भटक जाते हैं। कल्याणमार्ग का क्रम यह है कि साधक सद्‌गुरु की शरण में समर्पित होकर सेवा, स्वाध्याय एवं साधना में बहुत दिन व्यतीत करें। स्वयं पूर्ण अंतर्मुख होकर जीवन्मुक्ति के आनंद में निमग्न रहें। इसके बाद अपना बल देखकर दूसरे के उद्धार की बात सोचें।

वे कुछ करते नहीं, इससे सबकुछ व्यवस्थित हो जाता है। पूर्ण संत की इच्छाएं ही समाप्त हो जाती हैं। इसलिए उन्हें कुछ करना शेष नहीं रहता; क्योंकि उन्हें कुछ पाने की चाह नहीं। पूर्ण निष्काम दशा की ऐसी प्रबल शक्ति होती है कि उनके आस-पास सब कुछ अपने आप व्यवस्थित हो जाता है। वे किसी को अपने वश में रखने का प्रयत्न नहीं करते, किंतु लोग स्वाभाविक उनके अनुगामी हो जाते हैं। वे किसी की ताड़ना नहीं करते, किंतु उनके आस-पास के लोग स्वाभाविक सुधर जाते हैं। दूसरे पर शासन करने की अपेक्षा स्वयं पर शासन करना उत्तम है। अपने पर शासन करने से अपना पूरा मंगल होता है। दूसरे लोग जिनको सूझ होगी वे स्वयं देखकर सुधरेंगे। स्वयं का सुधार संसार का सुधार है। इसका अर्थ यह नहीं है कि पास के लोगों को राय न दी जाय। तथ्य है, अपने सुधार पर बल देना चाहिए।

4. ताओ की गहनता और उपयोगिता

1. *DAO is forever flowing.*
   And yet it never overflows in its effectiveness.
   It is an abyss like the ancestor of all things.

2. *It mellows their acuity.*
   It dissolves their confusion.
   It mitigates their brightness.
   It unites itself with their dust.
   It is deep and yet as if real.

3. *I do not know whose son it is:*
   It seems to be earlier than God.

अनुवाद

1. *ताओ सतत प्रवहमान है।*
   तो भी अपने कार्य में यह अति नहीं करता।
   यह गहरे खड्ड की भांति है, मानो सभी वस्तुओं का पूर्वज हो!

2. *यह उनके तेज को नरम करता है।*
   यह उनकी ग्रंथियों को सुलझाता है।
   यह उनकी चमक को मृदु करता है।
   यह अपने को उनकी धूलि में मिला देता है।
   यह गहन और सत्य है।

3. *मैं नहीं जानता किसका पुत्र है यह,*
   यह ईश्वर से भी पहले का लगता है!

भावार्थ—1. ताओ निरंतर बह रहा है, फिर भी वह अपने कार्य में अतिक्रमण नहीं करता। वह गहरे समुद्र के समान है। मानो वह सबसे पहले जन्मा हो।

2. यह मनुष्यों की तीव्रता को घटाता है, उनकी ग्रंथियों को सुलझाता है, उनकी चमक को मंद करता है और अपने को उनकी धूल में मिला देता है।

3. मैं नहीं जानता कि यह किसका पुत्र है। यह ईश्वर से भी पहले का लगता है।

भाष्य—ताओ निरंतर बह रहा है। ताओ विश्वव्यापी नियम है, और वह सर्वत्र प्रवहमान है। उसी से पृथ्वी, सूर्य, चंद्रमा, असंख्य तारों, ग्रह-उपग्रह तथा उनके भीतर होने वाली समस्त गतिविधियों का निरंतर संचालन है। पृथ्वी पर छह ऋतुओं का परिवर्तन, वृक्ष-वनस्पति, पर्वत, बर्फ, रेगिस्तान, नदी, झरने, समुद्र सब में गतिशीलता और निर्माण-विनाश रूप परिवर्तन ताओ से ही होता है। प्राणियों के शरीर तथा उनके अंगों में भी ताओ—विश्वव्यापी नियम का ही प्रभाव है। हमारे मन के नियम ताओ ही हैं। मन को संयत रखो तो ताओ सुख देगा, और असंयत रखो तो दुख देगा। भोजन संतुलित करोगे तो पेट का ताओ आपको सुख देगा, और असंतुलित खाओगे तो दुख देगा। ताओ के सामने प्रार्थना नहीं चलती, अपितु पवित्र आचरण चलता है।

ताओ इतना शक्तिशाली है कि जैसा तुम कर्म करो, वह वैसा ही तुमको प्रतिफल देने में समर्थ है। फिर भी वह किसी के साथ अति नहीं करता है। क्योंकि उसमें न कृपा है और न कोप है। वह तो कम्प्यूटर की तरह है। उसमें जो डालो वह वही आपके सामने कर देगा। कम्प्यूटर बिगड़ता भी है, ताओ कभी नहीं बिगड़ता। विश्वव्यापी नियम कभी नहीं बिगड़ता। हमारे बाहर-भीतर ताओ, विश्वव्यापी नियम ओतप्रोत है। उसे पहचानें और उसके अनुसार चलें, फिर कोई दुख नहीं है।

ताओ गहरे खड्ड के समान है। पृथ्वी पर सबसे गहरा खड्ड समुद्र है। ताओ वैसा ही गहरा है, न कहकर, कहना चाहिए अथाह है। समुद्र की तो थाह है, परंतु ताओ अथाह है। विश्वव्यापी नियम अथाह है।

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने लौकिक और आध्यात्मिक उन्नति से संबंधित नियमों को समझ ले और उनके अनुसार चले। बस, उसका बेड़ा पार है। अथाह ताओ, अथाह विश्वव्यापी नियम को न कोई एक मनुष्य जान सकता है और न जानने की आवश्यकता है। ज्ञान अनंत है, शास्त्र अनंत हैं, समय थोड़ा है, बाधाएं बहुत हैं; अतएव जैसे हंस पानी में से दूध ले लेता है, वैसे आत्मकल्याण मात्र के लिए ज्ञान लेकर अपना काम कर लेना चाहिए।

ताओ मानो सभी वस्तुओं का पूर्वज हो। मानो का अर्थ है जैसा। परंतु ताओ के विषय में लाओत्ज़े का अर्थ ऐसा नहीं है। वे ताओ के विषय में संदेहशील नहीं हैं कि मानो लगता है कि ताओ सबका पूर्वज है। अपितु पक्का

है कि ताओ प्रथम ही नहीं, शाश्वत है। लाओत्ज़े अपनी इस पुस्तक में 'मानो' (जैसा) शब्द का प्रयोग विनम्रता के लिए करते हैं।

यह उनके तेज को नरम करता है। 'यह' ताओ है, विश्वव्यापी नियम है और 'उनके' मनुष्य हैं। 'यह' और 'उन' दोनों सर्वनाम हैं। 'यह' ताओ का व्यंजक है और 'उन' मनुष्य का व्यंजक है। मनुष्य अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के पीछे बहुत तेजी से भागता है। ताओ का संकेत है कि वह बहुत भागादौड़ी न करे, अन्यथा उसका मन नरक बन जायेगा। प्रकृति के नियम मानो हमें राय देते हैं कि तुम इच्छाओं के पीछे तेजी से दौड़ो मत, अन्यथा तुम तो थकोगे और गिरोगे ही, दूसरे लोग भी तुमसे धक्का खाकर दुखी होंगे। महान सिकंदर निश्चित ही बहुत योग्य था। परंतु वह घोर महत्त्वाकांक्षा में पड़कर स्वयं उलझा रहा और दुखी हुआ तथा दूसरों को भी दुखी किया। अतएव महान सिकंदर शैतान सिकंदर हो गया। शक्ति का सदुपयोग है अपने और दूसरों को सुख-शांति पहुंचाना। अतएव जो ताओ के अनुसार चलता है, वह महत्त्वाकांक्षी नहीं, अपितु संतोषी होता है। वह भागादौड़ी नहीं करता, अपितु आत्मतृप्त रहता है, और यथाशक्ति दूसरों की सेवा करता है।

यह उनकी ग्रंथियों को सुलझाता है। ताओ के अनुसार जो मनुष्य चलता है उसके मन की ग्रंथियां कट जाती हैं, उसके राग-द्वेष समाप्त हो जाते हैं। विश्व के प्राकृतिक नियमों को जो समझेगा वह किससे मोह-वैर करेगा? देखा जाता है कि जो लोग दूसरों को विनष्ट करने के लिए हाथ लहराते हैं वे स्वयं थोड़े दिनों में दुनिया से मिट जाते हैं। धरती-आकाश के बीच में आज तक किसी का दबदबा अधिक दिन तक नहीं टिक सका। हम अंधे हैं, ताओ को, विश्वव्यापी नियमों को देख नहीं पाते। इसलिए अनेक मानसिक ग्रंथियों के नरक में पड़े जलते रहते हैं। यदि हम संसार की स्थिति की सचाई देख सकें, तो यहां न किसी से मोह करने योग्य है और न वैर करने योग्य है।

जिससे हम मोह करते हैं वह कब तक हमारे साथ रहेगा? और उसका मन कब तक हमें श्रेय देगा? सबका मन बदलने वाला है, तन बदलने वाला है, स्थितियां बदलने वाली हैं। यहां तो सब कुछ क्षणभंगुर है। मित्र शत्रु हो जाता है और शत्रु मित्र हो जाता है; और अंततः कुछ नहीं रह जाता है। प्राणी-पदार्थों से भरा अपना सारा ऐश्वर्य अपने माने गये शरीर के सहित सदा के लिए लुप्त हो जाता है। यह ताओ की सच्चाई है, विश्वनियम का अटूट सिद्धांत है। अतएव जो मनुष्य इसे ठीक से समझ लेगा, वह अपने मन में कोई गांठ नहीं रखेगा। वह राग-द्वेष से सर्वथा ऊपर निर्मल मन का हो जायेगा।

यह उनकी चमक को मृदु करता है। मनुष्य का रजोगुणी मन चमक-दमक वाली वस्तुओं को अधिक पसंद करता है। मनुष्य सांसारिक चमक-दमक से

स्वयं को चमकाना चाहता है जो उसका बालकपन है। ताओ सबकी चमक को थोड़े दिनों में ठंडा कर देता है। बड़े-बड़े राजे-महाराजे, मंत्री-मिनिस्टर धूल में मिल जाते हैं और उनका कोई नामलेवा नहीं रहता है। बड़े-बड़े धर्म-प्रचारक जिन्होंने पृथ्वी पर धूम मचा दी थी, थोड़े दिनों में प्रयाग के संगम पर राख हो गये। प्रयाग तो लाक्षणिक है। सारे संसार के प्रचारकों की यही बात है।

ताओ का, विश्व-सत्ता के नियमों का यह हमारे लिए मानो संकेत है कि तुम अपने को चमक-दमक से मंडित करने का बालपन न करो। अतएव अस्तित्व को समझने वाला चमक-दमक से दूर रहता है। वह अपने को चमका कर दिखाना नहीं चाहता।

यह अपने को उनकी धूल में मिला देता है। ताओ मनुष्यों की सेवा में इतना विनम्र समर्पित है कि यह अपने को मनुष्यों के चरणों की धूल में मिला देता है या मनुष्यों के अस्तित्व को धूल में मिला देता है। इस तथ्य को जो मनुष्य समझता है वह स्वयं को अन्य मनुष्यों से न श्रेष्ठ मानता है और न उनसे अपने को अलग-थलग करता है। ताओ के ज्ञान से ओतप्रोत मनुष्य, विश्वसत्ता के नियमों का ज्ञाता मनुष्य अपने आपको साधारण मानता है। क्योंकि अंततः साधारण होना है। सम्राट भी मिट्टी में मिलता है, मिनिस्टर और स्वामी लोग भी मिट्टी में मिलते हैं। सत्य-परायण मनुष्य के जीवन में अहंकार करने की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती है।

मैं नहीं जानता कि किसका पुत्र है यह। यह ईश्वर से भी पहले लगता है। यह संत लाओत्ज़े की विनम्र शैली है। वे कोई बात विनम्रता से कहते हैं। लाओत्ज़े की एकमात्र पुस्तक 'ताओ ते चिंग' में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। वे निर्भ्रांत रूप से ताओ को मानते हैं जो यूनिवर्सल लॉ है, विश्वव्यापी नियम है और शाश्वत है, क्योंकि वह अजन्मा है, नित्य है। परंतु वे विनम्रता से कहते हैं कि ताओ ईश्वर से भी पहले है। ताओ तो अनादि है और ईश्वर की कल्पना मनुष्यों ने की है। विश्व का नियम नित्य है। उसी का भावुक मनुष्यों द्वारा व्यक्तिकरण कर ईश्वर की कल्पना कर ली गयी है। असली ईश्वर ताओ है, विश्वव्यापी नियम है, परंतु नियम में चलने के लिए अपने जीवन में त्याग और संयम चाहिए, जो मोहासक्त को कठिन लगता है। इसलिए विश्वनियम को, ताओ को कृपा करने वाला व्यक्ति-ईश्वर बना लिया गया जो केवल मन का धोखा है। सही नियम से चलने से ही दुख और बंधन कटते हैं, कल्पित ईश्वर किसी का दुख और बंधन नहीं काट सकता।

5. प्रार्थना नहीं, परिश्रम और अंतश्शुद्धि करें

1. *Heaven and Earth are not benevolent.*
   To them men are like straw dogs destined for sacrifice.
   The Man of Calling is not benevolent.
   To him men are like straw dogs destined for sacrifice.

2. *The space between Heaven and Earth*
   is like a flute:
   empty, and yet it does not collapse;
   when moved more and more emerges from it.
   But many words exhaust themselves on it.
   It is better to guard the 'within'.

अनुवाद

1. *स्वर्ग और पृथ्वी परोपकारी नहीं हैं।*
   उनके लिए मानव तृण-श्वान की तरह त्याज्य हैं।
   संत परोपकारी नहीं होते।
   उनके लिए मानव तृण-श्वान की तरह त्याज्य हैं।

2. *स्वर्ग और पृथ्वी के बीच का आकाश बांसुरी के समान है।*
   रिक्त, फिर भी वह सिकुड़ता नहीं,
   गति देने पर इसमें से अधिकाधिक निकलता है।
   किंतु तमाम शब्द इसको बता पाने में अपने को असमर्थ पाते हैं।
   उत्तम है कि अंतस की सुरक्षा करें!

भावार्थ—1. स्वर्ग और पृथ्वी दयावान होकर परोपकार नहीं करते। उनके लिए मानव घास के कुत्ते की तरह त्याज्य हैं। इसी तरह संत परोपकारी नहीं होते। उनके लिए भी मनुष्य घास के कुत्ते की तरह त्याज्य हैं।

2. द्युलोक और पृथ्वी के बीच का अंतरिक्ष बांसुरी के भीतर की खाली जगह की तरह शून्य है, तो भी वह सिकुड़ नहीं जाता। ताओ द्वारा गति देने पर

इसमें से अधिकाधिक निकलता है। किंतु बहुत शब्द भी इसको नहीं बता पाते। उत्तम यह है कि हम अंतस की सुरक्षा करें।

भाष्य—स्वर्ग, अंतरिक्ष और पृथ्वी विश्व की समग्रता को व्यक्त करने के लिए लाक्षणिक शब्द हैं। द्युलोक (तारा मंडल) स्वर्गवाचक है, आकाश अंतरिक्ष-वाचक है और पृथ्वी जिस पर हम बसे हुए हैं, वह है। इसका अर्थ है पूरी प्रकृति-सत्ता। तो यह प्रकृति-सत्ता दयावान नहीं है। यह प्राणियों पर दया करके उनके लिए कोई उपकार नहीं करती है। इसके विपरीत वह कोप करके प्राणियों को कष्ट भी नहीं देती है।

वैसे प्रकृति से प्राणियों का उपकार होता है और अपकार भी होता है; परंतु प्रकृति को इसका कुछ भी पता नहीं है। संतुलित वर्षा और संतुलित ऋतुओं से जल, फल, अन्न आदि से पृथ्वी संपन्न होती है, तब प्राणियों को लाभ होता है, उन्हें सुख मिलता है। जब अति वर्षा, अवर्षण, भूचाल तथा विषम ऋतुओं की स्थिति आती है, तब प्राणी पीड़ित होते हैं। परंतु प्रकृति को इसका कुछ पता नहीं रहता। घर में प्रकाश जलता है, उसमें रुदन हो रहा है कि प्रसन्नता के गीत, प्रकाश को कुछ मतलब नहीं। पूर्णिमा की चांदनी मित्रों के मिलन के क्षण आह्लादिनी लगती है और प्रियवियोग के क्षण उदासीन। यह हमारे मनोभाव पर निर्भर करता है। चांदनी को इन बातों से कुछ लेना-देना नहीं।

स्वर्ग-पृथ्वी एवं पूरी प्रकृति जड़ है। उसमें न कृपा है और न कोप है। वह अपने स्वाभाविक क्रियाओं तथा गुण-धर्मों से चलती है।

संत लाओत्ज़े कहते हैं, **प्रकृति के लिए मानव तृण-श्वान (Straw dogs) की तरह त्याज्य हैं।** चीन में जब अवर्षण होता था, तब लोग घास का कुत्ता बनाते थे और उसको प्रार्थनास्थल में रखकर वर्षा के लिए प्रार्थना करते थे, जिससे देव पानी बरसाये। प्रार्थना-क्रिया पूरी हो जाने पर घास के कुत्ते को फेंक देते थे। भारत में आज-कल दशहरे में दुर्गा-पूजा में यह दृश्य देखा जा सकता है। घास-फूस, बांस, मिट्टी, रंग-रोगन तथा वस्त्रों से दुर्गा की मूर्ति बनायी जाती है और पूजा के बाद उसे फेंक दिया जाता है। पूजा के बाद जैसे तृण-श्वान फेंक दिया जाता है, वैसे प्रकृति मनुष्यों को मानो फेंक देती है। वह उन पर न दया करती है और न उपकार।

संत कबीर साहेब ने कहा है, ''लोगों ने ईश्वर की कृपा पाने के लिए नियम, धर्म और संयम का एक व्यापार बना रखा है। वे ईश्वर-जैसे स्वामी की कल्पना त्यागकर स्वयं के कर्म सुधार का काम नहीं कर पाते; अपितु अबोधी बालक बने स्वर्ग के काल्पनिक दूल्हा ईश्वर की प्रार्थना कर उसे प्रसन्न करने में लगे हैं। उन मनुष्यों की स्थिति कहां हुई जिन्हें गुरुओं ने परोक्ष ईश्वर की चासनी घोंटकर पिलायी है। सावधान हो जाओ, राम, ईश्वर, ब्रह्म नाम अपने ही

समझकर परोक्ष ईश्वर रूपी खोटी बात को छोड़ दो।''[1]

संत लाओत्ज़े कहते हैं कि स्वर्ग और पृथ्वी दयावान एवं परोपकारी नहीं हैं। अर्थात यह पूरी प्रकृति सत्ता तुम पर कृपा नहीं कर सकती। अतएव उसकी प्रार्थना के चक्कर में न पड़ो, अपितु दुख आने पर उन्हें अपने कर्म-फल समझकर सहन करो, और आगे अपने कर्मों को सुधारो। मनुष्य न विश्व-सत्ता को समझता है और न उसके नियमों को, अपितु वह ऐसा ईश्वर गढ़ता है जो प्रार्थना और पूजा से प्रसन्न हो सके और जिससे अपना काम करवाया जा सके। परंतु यह मन का धोखा है। अवर्षण, अतिवर्षण, भूचाल, बाढ़, रोग, संतानहीनता, दरिद्रता, विपत्ति से छूटने के लिए प्रार्थनाएं चलती हैं, परंतु कोई समुचित फल नहीं मिलता। क्योंकि प्रार्थना सुनने वाला कोई स्वर्ग में-आकाश में नहीं बैठा है। संत निर्मल साहेब कहते हैं ''ईश्वर पानी भरके गिराता नहीं है। जड़ भी हुकुम को बजाता नहीं है।'' [2]

संत लाओत्ज़े मनुष्य के मन के भ्रम को तोड़ते हैं **स्वर्ग और पृथ्वी परोपकारी नहीं हैं।** वे दयावान नहीं हैं। प्रकृति-सत्ता बेजान है। उसकी प्रार्थना करना बेकार है। उसके द्वारा प्राणियों का उपकार-अपकार होना स्वाभाविक है, वैचारिक नहीं, कृपा तथा कोप-जनित नहीं। अतएव कुछ पाने के लिए प्रार्थना न कर परिश्रम करना चाहिए।

आगे संत लाओत्ज़े कहते हैं, **संत परोपकारी नहीं होते, उनके लिए मानव तृण-श्वान की तरह त्याज्य हैं।** यह बात चौंकाने वाली है। सारा संसार कहता है कि संत अत्यंत कारुणिक होते हैं। वे दया-सागर और दीनबंधु होते हैं। परंतु संत लाओत्ज़े कहते हैं कि संत परोपकारी नहीं होते, अर्थात वे दया करके किसी का उद्धार नहीं करते, अपितु उनकी दृष्टि में मनुष्य तृण-पशु की तरह त्याज्य है।

मनुष्य जब देवता और ईश्वर की प्रार्थना और पूजा करने के बाद भी सफल मनोरथ नहीं होता तब संतों की तरफ टूट पड़ता है। ऐसे दो नंबर के प्रचार काफी हैं, ''संत जो चाहें सो कर सकते हैं और जिसे जो चाहें उसे वह दे सकते हैं। संत सिद्ध होते हैं। वे जिसको जो कह देंगे, वही हो जायेगा।'' परंतु ऐसा कुछ नहीं है। संत का सिद्ध होने का तात्पर्य है उनका मन-इंद्रियों पर पूर्ण विजयी होना, निर्मान, निष्काम और आत्मतृप्त होना। वे अपने आशीर्वाद से

---

1. **बनिज एक सबन मिलि ठाना। नेम धर्म संयम भगवाना॥**
   हरि अस ठाकुर तजियो न जाई। बालहि बिहिस्त गावहिं दुलहाई॥
   ते नर कहाँ गये, जिन दीन्हा गुरु घोंटि।
   राम नाम निजु जानि के, छाड़ि देहु बस्तु खोटि॥ (बीजक, रमैनी 36)
2. **न्यायनामा, दीगर 4।**

किसी को पुत्र-धन आदि नहीं दे सकते। ऐसे सकामी मनुष्य संत की दृष्टि में तृण-श्वान की तरह त्याज्य होते हैं। जैसे घास का बनाया देवता पूजा के बाद निरर्थक समझकर फेंक दिया जाता है, वैसे सच्चे संत इन अबोधी सकामी मनुष्यों के संबंध से बचते हैं।

संत आत्मज्ञान और आत्मशुद्धि में रहते हैं। इसीलिए आत्मसंतुष्ट रहते हैं। सत्पात्र मिलने पर वे उसको उपदेश भी करते हैं। जो उनका उपदेश ग्रहण कर आचरण करता है, उसका उद्धार होता है। संत किसी पर केवल कृपा और दया करके उसका उद्धार नहीं कर सकते। संतों का मुमुक्षुओं को सही रास्ता बताना उनकी कम कृपा-दया नहीं है। यह बात इस पुस्तक के मूल वचन में बारंबार आती है। पीछे तीसरे अध्याय ही में इसे देख सकते हैं, **वे (संत) उनके हृदय को खाली करते हैं और उनका उदर पोषण करते हैं। वे उनकी इच्छाओं को कमजोर करते हैं और उनकी हड्डियों को मजबूत।**

इस अध्याय में संत लाओत्ज़े कल्याणार्थियों को सावधान करते हैं कि तुम लोग संतों से आशीर्वाद मांगकर भोग और मोक्ष पाने का भ्रम मत पालो। भोग पाने के लिए परिश्रम करो और मोक्ष पाने के लिए संयम। संतों से सद्बुद्धि प्राप्त करो और उसके अनुसार स्वयं साधना करो। आशीर्वाद मात्र से कल्याण की कामना करना भ्रम है। गुरु एवं संत शिष्य पर शक्तिपात कर देते हैं, यह भयंकर भ्रम है।

स्वर्ग और पृथ्वी के बीच का आकाश बांसुरी के समान है रिक्त, फिर भी वह सिकुड़ता नहीं। गति देने पर इसमें से अधिकाधिक निकलता है। किंतु तमाम शब्द इसको बताने में अपने को असमर्थ पाते हैं। उत्तम है कि अंतस की सुरक्षा करें।

स्वर्ग द्युलोक है, ताराओं से भरा ज्योतिर्लोक है, और पृथ्वी तो यही है जिस पर हम बैठे हैं। बीच में आकाश है, शून्य स्थल है। बांसुरी में पोल होता है, शून्य होता है। वैसे द्युलोक और पृथ्वी के बीच में पोल है, शून्य आकाश है। ऐसी स्थिति में द्युलोक और पृथ्वी सिकुड़कर एक में चिपक जाना चाहिए। परंतु ऐसा नहीं होता है। पृथ्वी और सभी ग्रह-उपग्रह अपने नियमों से गतिमान हैं और कोई किसी से टकराता नहीं। अपितु ताओ द्वारा, विश्व-नियमों द्वारा बल पाकर ये अपना अधिकाधिक काम करते हैं। करोड़ों किलोमीटर दूर से सूर्य हमें ऊर्जा देता है, चांद शीतल ज्योत्स्ना देता है, तारे प्रकाश देते हैं, धरती माता तो सब कुछ देती है। आकाश में भरा जल-चक्र हमें जल देता है। इसीलिए वेदों में आकाश को समुद्र कहा गया है। यह अनंत प्रकृति-शक्ति निरंतर गतिमान है।

संत लाओत्ज़े कहते हैं, **परंतु तमाम शब्द इसको बताने में अपने को असमर्थ पाते हैं।** इस अगाध प्रकृति-शक्ति को पूरा-का-पूरा समझ पाना और

उसकी व्याख्या कर पाना असंभव है। इसलिए संतजी कहते हैं, **उत्तम है कि अंतस की सुरक्षा करें।** अंतस की सुरक्षा है मन को वासनाओं से खाली करना। मनुष्य जड़-प्रकृति के कार्य-पदार्थों से अपने शरीर का निर्वाह ले। बस, उसका काम हो गया। अब खास काम है, अंतस की सुरक्षा। सामान्य तो सामान्य, बड़े-बड़े पूंजीपति, नेता, विद्वान, स्वामी अपने अंतस की सुरक्षा नहीं कर पाते।

शरीर से लेकर समस्त लौकिक एवं भौतिक उपलब्धियां छूटने वाली, नश्वर एवं सदा के लिए लुप्त हो जाने वाली हैं। परंतु अच्छे-अच्छे समझदार इन्हीं असत पदार्थों में आसक्त होकर राग-द्वेष के शिकार बने मानसिक नरक की यातना भोग रहे हैं। अंत:करण को शुद्ध रखने के महत्त्व का भान बहुत कम लोगों को है। इसलिए लोगों का मन उद्वेग में पड़ा जल रहा है। कुछ बनने और पाने की इच्छा का त्याग किये बिना अंतस शुद्ध नहीं हो सकता।

निर्भय और शाश्वत सुख पाने की इच्छा रखने वाले यह ध्यान दें कि जिन विचारों, उच्चारों, आचारों और व्यवहारों से मन मलिन होता हो, उद्वेगित होता हो, उनसे प्राणपण से बचें। हमारा निर्भय साम्राज्य भीतर है जो मन की पूर्णशांति है। यह मन को सम्हालने से होगा, अंतस की सुरक्षा से होगा।

6. जड़ प्रकृति शाश्वत गतिशील है

1. *The spirit of the valley never dies.*
It is called 'the female'.
The gateway of the dark female
is called 'the root of Heaven and Earth'.
Uninterrupted as though persistent
it is effective without effort.

अनुवाद

1. *घाटी की आत्मा कभी मरती नहीं*
इसे 'स्त्री' कहा जाता है।
रहस्यमय स्त्री का मार्ग
'स्वर्ग और पृथ्वी का मूल' कहलाता है।
अबाध, सतत कार्यरत, बिना प्रयास के।

भावार्थ—सूक्ष्म प्रकृति नित्य है। यह स्त्रीवाचक है। गूढ़ प्रकृति का मार्ग द्युलोक तथा पृथ्वी का कारण कहा जाता है। यह मूल प्रकृति निर्विघ्न सतत क्रियाशील है। यह प्रयास नहीं करती है, स्वाभाविक गतिमान है।

भाष्य—घाटी की आत्मा कभी मरती नहीं। दो निकट पर्वतों के बीच का शून्य स्थल घाटी कहलाता है। किंतु ग्रंथकार का यह अर्थ नहीं है। उनका अर्थ है सूक्ष्म प्रकृति। यहां आत्मा का अर्थ है प्रकृति में सक्रिय रूप देने वाला नियम। तात्पर्य हुआ सूक्ष्म प्रकृति का नियम जो उसी में अनादि अंतर्निहित है वह कभी मरता नहीं। दूसरे शब्दों में कहें तो ताओ की गतिविधि को घाटी की आत्मा कहा गया है। अर्थात विश्व-सत्ता का नियम घाटी की आत्मा है। घाटी इसलिए कहा गया कि ताओ अर्थात विश्वनियम स्थूल नहीं है। आत्मा इसलिए कहा गया है कि उसका अभाव नहीं है। स्पिरिट = आत्मा। वैली = घाटी, कुल मिलाकर घाटी की आत्मा सूक्ष्म प्रकृति का विश्वव्यापी नियम है जिसे ग्रंथकार ताओ नाम से कहते हैं।

ग्रंथकार कहते हैं, **इसे स्त्री कहा जाता है।** भारत में भी पुराकाल में जगत-प्रपंच के मूलतत्त्व को प्रकृति कहा गया है, जो स्त्रीलिंग है। वैसे संसार भर में

हजारों वर्ष पूर्व जगत-माता कहने का प्रचलन था, जगत-पिता नहीं। यजुर्वेद के अंतिम चालीसवें अध्याय का पहला मंत्र **ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।** कहकर बताया गया है कि जगत में जो कुछ भी है उसमें 'ईशा' बसाने योग्य है। ध्यान देना चाहिए 'ईशा' स्त्रीलिंग शब्द है। अतएव स्थूल जगत को पैदा करने वाली मूल प्रकृति है जो स्त्रीवाचक है।

ग्रंथकार कहते हैं **रहस्यमय स्त्री का मार्ग स्वर्ग और पृथ्वी का मूल कहलाता है।** प्रकृति रहस्यमय है। इसमें कार्य बनने की कितनी शक्तियां छिपी हैं, जान पाना कठिन है। आजकल करोड़ों मोबाइल के संदेश पृथ्वी के आकाश में गूंजते हैं, परंतु एक-दूसरे में मिलकर गड्डमड्ड नहीं होते। ग्रंथकार कहते हैं, 'रहस्यमय स्त्री का मार्ग' अर्थात अनंत संभावनाओं को छिपाये हुए मूल प्रकृति की गतिविधि स्वर्ग और पृथ्वी का मूल है। अर्थात सत्तात्मक समस्त निर्मित कार्य-पदार्थों का कारण है।

अंत में ग्रंथकार कहते हैं, **अबाध, सतत कार्यरत, बिना प्रयास के।** प्रकृति की गति में कोई बाधा नहीं है। वह सतत कार्य-पदार्थ निर्मित करने में रत है। इस कार्य में उसे कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। प्रयास देहधारी चेतन करता है, जड़ प्रकृति नहीं। वह स्वाभाविक गतिमान है। एक आदमी, एक कुत्ता या एक पक्षी चलने, दौड़ने एवं उड़ने में प्रयास करता है; परंतु वायु चलने में कोई प्रयास नहीं करता। वह स्वाभाविक चलता है। प्रकृति जड़ है, वह स्वाभाविक गतिमान है।

7. निष्काम व्यक्ति पूर्ण और सुरक्षित है

1. *Heaven is eternal and Earth lasting.*
   They are lasting and eternal
   because they do not live for themselves.
   Therefore can they live forever.

2. *Thus also is the Man of Calling :*
   He disregards himself,
   and his Self is increased.
   He gives himself away
   and his Self is preserved.
   Is it not thus:
   because he desires nothing as his own
   his own is completed?

अनुवाद

1. *स्वर्ग शाश्वत है और पृथ्वी सदैव रहने वाली।*
   वे शाश्वत व सदा रहने वाले हैं,
   क्योंकि वे अपने लिए नहीं रहते।
   अतएव, वे सदैव के लिए बने रहते हैं।

2. *इसी प्रकार संत की रहनी होती है,*
   वे अपने मान-सम्मान के प्रति लापरवाह रहते हैं,
   और उनका 'स्व' बढ़ता है।
   वे अपने अहंकार को खो देते हैं,
   और उनका 'स्व' सुरक्षित रहता है।
   क्या ऐसा नहीं है?
   चूंकि वे अपने लिए कुछ चाहते नहीं,
   वे स्वयं पूर्ण हैं!

भावार्थ—1. स्वर्ग शाश्वत है और पृथ्वी नित्य रहनेवाली है, क्योंकि वे अपने लिए नहीं रहते। अतएव सदा बने रहते हैं।

2. संत की रहनी इसी प्रकार होती है। वे अपने सम्मान तथा प्रतिष्ठा की इच्छा नहीं रखते। इसलिए उनका 'स्व' बढ़ता है। वे अपने अहंकार को मिटा देते हैं; इसलिए उनका 'स्व' सुरक्षित रहता है। क्या यह बात सच नहीं है? वे अपने लिए कुछ नहीं चाहते। वे स्वत: पूर्ण हैं।

भाष्य—स्वर्ग शाश्वत है और पृथ्वी सदैव रहने वाली है। वे शाश्वत व सदा रहने वाले हैं; क्योंकि वे अपने लिए नहीं हैं। स्वर्ग है तारामंडल का क्षेत्र। पृथ्वी के अतिरिक्त जो कुछ चमकने वाले पिण्ड आकाश में दिखते या दूर होने से नहीं दिखते सब स्वर्ग कहे जाते हैं, और पृथ्वी तो सुपरिचित ही है जिस पर हम बसे हुए हैं। यह सबका अर्थ है कि यह पूरी सत्ता शाश्वत है, सदा रहने वाली है। संत लाओत्ज़े यह नहीं मानते कि सृष्टि नये सिरे से कभी पूरी-की-पूरी पैदा हुई है और वह अमुक काल में पूरी-की-पूरी विलीन हो जायेगी। वे सूक्ष्म प्रकृति से निरंतर निर्माण और विनाश देखते हैं। वे कहते हैं कि सूक्ष्म कारण से स्थूल कार्य-पदार्थ बनते हैं और वे पुन: अपने कारण में लीन होते हैं। यह धारा निरन्तर प्रवहमान है। इसीलिए वे कहते हैं कि स्वर्ग और पृथ्वी शाश्वत हैं और नित्य रहते हैं।

ग्रंथकार कहते हैं कि तारे और पृथ्वी अपने लिए नहीं रहते हैं, इसीलिए वे सदा रहते हैं। इसका अर्थ है कि वे परोपकार के लिए रहते हैं, प्राणियों के भोग और मोक्ष के लिए रहते हैं, इसलिए सदैव रहते हैं। यहां ग्रंथकार भावनात्मक पक्ष उपस्थित करते हैं। स्वर्ग और पृथ्वी, तारामंडल और हमारी पृथ्वी जड़ हैं। उनमें परोपकार करने के मूल में रहने वाली दया ही नहीं है, क्योंकि उनमें चेतना नहीं है। फिर वे परोपकार क्या करेंगे? वस्तुत: उनसे स्वत: परोपकार होते हैं।

ग्रंथकार पीछे पांचवें अध्याय में स्वयं बता आये हैं कि कोई प्रकृति-सत्ता की प्रार्थना में न डट पड़े। वह कृपालु नहीं है, परोपकारी नहीं है; क्योंकि जड़ है। उसके द्वारा परोपकार तथा अपकार जो होते हैं वे स्वाभाविक हैं। इनका उसे पता नहीं है।

ग्रंथकार इस अध्याय में भावना का पुट देकर कहते हैं कि स्वर्ग और पृथ्वी इसलिए सदा रहते हैं कि वे अपने लिए नहीं रहते। अतएव मानो वे निष्काम हैं। जो निष्काम है, वह शाश्वत है। पांचवें अध्याय की विषय-वस्तु का इस अध्याय की विषय-वस्तु से विरोध नहीं है। दोनों जगह भिन्न शैली से दो सत्यों का उद्घाटन है। पांचवें अध्याय में निर्देश है कि जड़-पदार्थों की प्रार्थना में कोई न डट पड़े। यहां भावनात्मक निर्देश है कि निष्काम शाश्वत है। स्वर्ग और

धरती मानो निष्काम हैं इसलिए शाश्वत हैं। ग्रंथकार का वचन बहुत सम्हाल कर है। "**वे शाश्वत इसलिए हैं कि वे अपने लिए नहीं रहते।**" तो अर्थ हुआ कि वे दूसरों के लिए रहते हैं।

भारत का सांख्य दर्शन जो संत लाओत्ज़े से हजारों वर्ष पुराना है और महर्षि कपिल की देन है, वह यही कहता है कि पुरुष (चेतन आत्मा) नाना हैं और उनसे सर्वथा पृथक जड़ प्रकृति है। जड़ प्रकृति अपने लिए नहीं है। वह पुरुषों के भोग (देह निर्वाह कराने) और मोक्ष के लिए है।

प्रकृति अपने लिए नहीं रहती, इसलिए शाश्वत है, ऐसा कहकर ग्रंथकार आगे कहते हैं, **संत की रहनी ऐसी ही होती है। वे अपने मान-सम्मान के प्रति लापरवाह रहते हैं, और उनका स्व बढ़ता है।**

'स्व' और 'पर' दो सत्ताएं हैं। 'स्व' निज स्वरूप चेतन है और 'पर' जड़-प्रकृति तथा उसका कार्य-विस्तार है। जब 'स्व' 'पर' से कुछ चाहता है तब वह स्वयं दब जाता है; और जब 'स्व' कुछ नहीं चाहता, तब उसका विस्तार होता है, वह बढ़ता है। यहां बढ़ने का तात्पर्य फैलना नहीं है अपितु अपनी गरिमा का निरंतर ज्वलंत बोध रहना है। यही आत्मसाक्षात्कार है। यही अनंत मोक्ष है। कुछ न चाहने वाला 'स्व' में प्रतिष्ठित होता है।

वे अपने अहंकार को खो देते हैं, और उनका स्व सुरक्षित रहता है। स्व-आत्मा, चेतन-स्व-स्वरूप केवल है, अकेला है, असंग है। देह उससे अलग है। फिर संबंधित समस्त माया-कार्य अलग हैं ही। आत्मा अपने निराले स्वरूप को भूलकर देह और देह संबंधित नाम, रूप, पद, वर्ण, जाति, मत, मजहब, धन, ऐश्वर्य आदि को अपने में जोड़कर उनका अहंकार करता है। इसका फल होता है कि वह इन क्षणिक, विनश्वर, छूटने वाले पदार्थों के मोह में जकड़ जाता है और चंचल होकर दुख-वन में भटकता है।

जिसे अपने पूर्णकाम स्व-स्वरूप का बोध हो जाता है, वह इस जड़-देह से लेकर समस्त संबंधित पद-पदार्थों की अहंता-ममता सर्वथा छोड़ देता है। अतएव उसका 'स्व' सुरक्षित हो जाता है। अनात्म वस्तुओं में अपने को जोड़ना अपने को अ-सुरक्षित करना है; और 'स्व' को, अपने आपको सबसे सर्वथा पृथक, अकेला, केवल, अद्वैत, निराला, असंग, अनासक्त कर लेना सुरक्षित हो जाना है।

छूटनेवाली वस्तुओं में अहंता-ममता करना भयंकर मूर्खता है। इसी मूर्खता में फंसा सारा संसार जल रहा है। हमें अ-सुरक्षा की बलवती भावना क्यों सताती रहती है, क्योंकि विनसने और छूटने वाली वस्तुओं में हमारी अहंता-ममता है। ग्रंथकार कहते हैं कि संत अपने अहंकार को खो देते हैं। इसलिए उनका 'स्व' सुरक्षित हो जाता है। वे निर्भय स्व में स्थित हो जाते हैं।

दुर्बलता तब तक है जब तक देह और देह संबंधित वस्तुओं में अहंता-ममता है। छूटनेवाली वस्तुओं में ममता करके अ-सुरक्षा की भावना बलवान होती है और मन भय से भर जाता है। जब अनात्म वस्तुओं से पूर्ण अनासक्ति हो जाती है, तब मनुष्य निर्भय हो जाता है, फिर अ-सुरक्षा रहती ही नहीं।

संत लाओत्ज़े कहते हैं, **क्या ऐसा नहीं है? चूंकि वे अपने लिए कुछ चाहते नहीं, वे स्वयं पूर्ण हैं।** जो कुछ नहीं चाहता वही तो पूर्ण है। कोई इच्छाओं के पीछे दौड़कर पूर्णता नहीं पा सकता। इच्छाओं को छोड़कर ही पूर्णता पा सकता है। इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती; क्योंकि एक इच्छा के पूर्ण होने पर अनेक इच्छाएं उठ खड़ी होती हैं। इच्छाओं को छोड़ देने पर पूर्णता मिलती है। कोई इच्छा न होना ही पूर्णता है, तृप्ति है, परमानंद है।

८. विनम्रता और निष्कामता सेवा की सच्ची विधा है

1. *The highest benevolence is like water.*
   The benevolence of water is
   to benefit all beings without strife.
   It dwells in places which man despises.
   Therefore it stands close to DAO.

2. *In dwelling benevolence shows itself in place.*
   In thinking benevolence shows itself in depth.
   In giving benevolence shows itself in love.
   In speech benevolence shows itself in truth.
   In ruling benevolence shows itself in order.
   In working benevolence shows itself in competence.
   In movement benevolence shows itself in timing.

3. *He who does not assert himself*
   thereby remains free of blame.

अनुवाद

1. *परम शुभ जल की भांति है।*
   जल की श्रेष्ठता है,
   सभी अस्तित्वों को लाभान्वित करना,
   बिना संघर्ष के।
   यह उन स्थानों में वास करता है,
   जिन्हें मनुष्य घृणास्पद मानता है।
   अतएव यह ताओ के अत्यंत निकट है।

2. *आवास की श्रेष्ठता स्थान की उपयुक्तता में है।*
   विचारों की श्रेष्ठता उनकी गहराई में है।
   दान की श्रेष्ठता उसके सप्रेम देने में है।

वाणी की श्रेष्ठता उसके सत्य होने में है।
शासन की श्रेष्ठता उसकी सुव्यवस्था में है।
कामकाज की श्रेष्ठता उसके सम्पादन की योग्यता में है।
गतिविधि की श्रेष्ठता उसके समयानुकूल होने में है।

3. *जिसका अपना कोई आग्रह नहीं,*
वह आक्षेपरहित हो जाता है।

भावार्थ—1. जो परम उपकारी है वह जल की तरह है। जल की श्रेष्ठता है, बिना लड़ाई किये पूरी सत्ता को लाभ पहुंचाना। जल नीचे-से-नीचे जाकर वहां भी रहता है, जहां से मनुष्य घृणा करता है। इसलिए यह ताओ के अधिकतम निकट है।

2. निवास-स्थान की श्रेष्ठता उसके उपयोगी एवं अनुकूल होने में है। विचारों की श्रेष्ठता उनके अर्थ-गर्भित होने में है। दान की श्रेष्ठता तब है जब प्रेम से दिया गया हो। वाणी की श्रेष्ठता है जब वह सत्य हो। शासन की श्रेष्ठता उसकी उत्तम व्यवस्था में है। काम-काज की विशेषता उसके योग्य संपादन में है। किसी कार्य के करने की श्रेष्ठता है कि वह समय पर पूरा हो जाये।

3. जिसकी अपनी कोई पकड़ नहीं, वह निर्दोष हो जाता है।

भाष्य—जल अत्यंत उपकारी है। यदि जल न हो तो जीवन नहीं रहेगा। जल बरसता है, या जलाशय से निकालकर जमीन पर लाया जाता है। वह जमीन पर चलता है और किसी से संघर्ष नहीं करता। शांत होकर सर्वत्र फैलता है और सबसे नीची जगह चला जाता है। जहां से आदमी घृणा करता है, वहां भी जाकर वह जड़ पदार्थ और चैतन्य सृष्टि को ऊर्जा और जीवन देता है।

इसी प्रकार व्यक्ति, परिवार, समाज, कंपनी, पार्टी और राष्ट्र की सच्ची सेवा करने वाले लोग अपने को सबसे पीछे और नीचे रखकर, बिना किसी से कलह, विवाद एवं संघर्ष किये सेवा करते हैं। अपने को मालिक माननेवाले तो अहंकार गांठते और दिखावा करते हैं। सच्चा आगे चलने वाला अपना मन सबसे पीछे और नीचे रखता है। वह किसी से कुछ नहीं चाहता और अपनी योग्यता के अनुसार परिवार एवं समाज की सेवा करता है। अहंकार और कामना त्यागकर रहनेवाला किसी से विवाद कर ही नहीं सकता। लोग भ्रम-वश समझते हैं कि कटु कहकर और विवाद करके दूसरों को समझाया जा सकता है। वस्तुत: सहनकर, गम खाकर, सिर झुकाकर, मौन रहकर सच्ची विजय मिलती है और इसी रास्ते से चलकर अपनी सच्ची सेवा समाज को दी जा सकती है।

ग्रंथकार कहते हैं, **अतएव यह ताओ के अत्यंत निकट है।** ताओ विश्व-नियम जो मौन होकर और ऊंच-नीच सभी जगह रहकर सारी जड़-चैतन्य-सृष्टि

की सेवा करता है, और उसका एक छोटा अंश जल भी वैसा करता है। इसी प्रकार जो मनुष्य विनम्र और निष्काम होकर समाज की सेवा करता है वह ताओ के निकट है, यूनिवर्सल-लॉ के निकट है।

आवास की श्रेष्ठता स्थान की उपयुक्तता में है। आवास कहते हैं रहने की जगह को, घर को, मकान को। उसकी श्रेष्ठता उसके कीमती होने में नहीं है, अपितु उसमें सुविधापूर्वक रहने की योग्यता होने में है। **विचारों की योग्यता उनकी गहराई में है।** विचार का अर्थ निर्णय है, और उसकी गहराई है संबंधित सत्य के अनुकूल होना। भावुकता तथा मनोवेग में लिया हुआ निर्णय या तो बदलना पड़ता है या उसके अनुसार काम करने से हानि उठाना पड़ता है। इसलिए किसी विषय का निर्णय लेने के पहले उस पर विविध कोणों से कुछ समय तक विचार उठने देना चाहिए। जल्दबाजी में अपना मन अपने को धोखा दे देता है।

दान की श्रेष्ठता उसके सप्रेम देने में है। दिया भी जाये और मन में कृपणता रखी जाये, अहंकार से दिया जाये, घृणा और उपेक्षा से दिया जाये, तो ऐसा दान न अपना चित्त शुद्ध करता है और न जिसको दिया जाता है उसके मन को प्रसन्न करता है। प्रेम से न दे सके तो न देना अच्छा है। वैसे भारतीय औपनिषदिक ऋषि तो कहते हैं, **श्रद्धा से दो, अश्रद्धा से दो, अपने धन की योग्यता के अनुसार दो, लज्जा से दो, भय से दो, पहले देने का वचन दे चुके हो, तो दो।**[1] ऋषि कहते हैं कि श्रद्धा से दो। यदि श्रद्धा नहीं है तो अश्रद्धा से ही दो, धीरे-धीरे श्रद्धा बन सकती है। तुम्हारे पास धन की जैसी योग्यता है उसके अनुसार दो। लज्जा से दो। लोग दान करते हैं और तुम कृपण बने बैठे हो, तो लज्जा करो और दो। भय से दो, कि लोग तुम्हें क्या कहेंगे कि योग्यता रखते हुए हाथ बटोरे बैठे हो। अतएव लोक-अपवाद का भय रखकर ही दो। यदि किसी को देने का वचन दे दिये हो, तो दो। संत कबीर साहेब कहते हैं, "वसंत ऋतु ने याचना की तो वृक्षों ने हर्षित होकर अपने सारे पत्ते उसे दे दिये, इसके फल में वृक्षों में नये-नये पत्तों के कोंपल निकल आये और सारे वृक्ष हरे-भरे हो गये। सच है, दिया हुआ दूर नहीं जाता, अपितु अधिक तथा उत्तम होकर मिलता है।"[2]

वाणी की श्रेष्ठता उसके सत्य होने में है। सत्य वचन बोलने से ही अपना मन प्रसन्न रहेगा और दूसरों को विश्वास होगा। कहा जाता है कि सत्य बोलने

---

1. श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।
(तैत्तिरीय उपनिषद्, 1/11/3)

2 ऋतु बसंत याचक हुआ, हर्षि दिया द्रुम पात।
ताते नव पल्लव हुआ, दिया दूरि नहिं जात॥ कबीर साखी॥

से हानि हो तो क्या करे? यदि सत्य बोलने पर तुरंत-तुरंत धन मिलने लगे तो कोई भी झूठ नहीं बोलेगा। वस्तुत: हानि उठाकर भी सत्य बोलना वीरता है। फिर सत्य से हानि नहीं होगी, अपितु सच्चा लाभ होगा। किंतु मनुष्य इतना कच्चा हो गया है कि वह सत बोलने से भागता है, जबकि दूसरों से अपने लिए सत्य वचन और सत्य व्यवहार ही चाहता है। कबीर साहेब कहते हैं, "सत्य पालन के समान तप नहीं है और झूठ के बराबर पाप नहीं है। जिसके हृदय में सत्य है, उसके हृदय में अपने आप की प्रतिष्ठा है।"[1]

शासन की श्रेष्ठता उसकी सुव्यवस्था में है। परिवार, समाज, संस्था, कंपनी, पार्टी, राष्ट्र, कहीं का भी शासन तभी सही और ऊंचा माना जायेगा, जब उसमें अच्छी व्यवस्था हो। अच्छी व्यवस्था का लक्षण है कि उसमें रहनेवाले मनुष्यों को अधिकतम संतोष हो।

कामकाज की श्रेष्ठता उसके संपादन की योग्यता में है। अच्छी योग्यता से किया गया काम सुव्यवस्थित होता है। **गतिविधि की श्रेष्ठता उसके समयानुकूल होने में है।** कोई कार्य आरंभ किया गया और वह अपने समय के भीतर नहीं संपन्न हुआ तो वह असफल माना जायेगा। विवाह-उत्सव में लगने वाली सामग्री की तैयारी यदि निश्चित तिथि तक नहीं हुई तो उसका क्या मतलब हुआ?

उपर्युक्त आवास, विचार, दान, वाणी, शासन, कामकाज और गतिविधि की श्रेष्ठता उनके उपयोगिता, गहराई, प्रेम, सत्य, सुव्यवस्था, संपादन की योग्यता और समयानुकुल होने में है। रिचर्ड विल्हम ने लिखा है कि उक्त उपदेश लाओत्ज़े ने अपने से पूर्व ज्ञानियों से लिया है। परंतु शुरू का जल वाला उदाहरण और आगे आने वाला वचन उनका अपना है।

जिसका कोई अपना आग्रह नहीं, वह आक्षेपरहित हो जाता है। अहंकार और कामना से मन में आग्रह, हठ, पकड़ और जिद्द होते हैं। जिसने अपना सारा अहंकार छोड़ दिया और जो सारी इच्छाओं से मुक्त हो गया, वह किस बात को लेकर आग्रह करेगा? ऐसा मनुष्य सभी आक्षेपों एवं दागों से रहित स्वयं पूर्ण तृप्तात्मा होता है। यही जीवन की ऊंचाई है।

जो मनुष्य इतनी ऊंचाई पर नहीं पहुंचा है, परंतु अपने अहंकार और इच्छाओं को जीतने में लगा है, वह अपने योग्यतानुसार आग्रह-रहित और दाग-रहित होता जाता है। किसी दिशा की पूर्ण संपन्नता में परिश्रम और समय लगते हैं।

---

1. **साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।**
   जाके हृदया साँच है, ताके हृदया आप॥ बीजक, साखी 334॥